साठवें दशक के कथाकार

ममता कालिया — सुधा अरोड़ा — अनीता औलक

ज्ञानरंजन — दूधनाथ सिह — काशीनाथ सिंह

अवधनारायण सिंह — गिरिराज किशोर — गगाप्रसाद विमल

विजय चौहान — सुदर्शन चोपड़ा — रवीन्द्र कालिया

सातवें दशक के कथाकार

महेन्द्र भल्ला — से० रा० यात्री — पानू खोलिया

प्रयाग शुक्ल — आलोक शर्मा — अतुल भारद्वाज

मनहर चौहान — प्रवोधकुमार — इसराइल

गौरीशंकर कपूर — विजयमोहन सिंह — भीमसेन त्यागी

उपेन्द्रनाथ अश्क

सातवाँ दशक : दशा-दिशा

पृष्ठ-भूमि

···पिछले दिनों इलाहाबाद में 'विवेचना' की एक गोष्ठी में बाहर से आनेवाले मुख्य आलोचक नहीं आ पाये। चूँकि लोग इकट्ठे हो गये थे, इसलिये संयोजकों ने सुझाव दिया कि इस अवसर का लाभ उठाकर किसी आज के विषय पर उपयोगी बातचीत की जाय। श्री जगदीश गुप्त ने विषय सुझाया—'क्या सचमुच आज पीढ़ियों का कोई संघर्ष है ? और क्या नयी पीढ़ी सचमुच कुछ नया दे रही है ?' तब, पुरानी पीढ़ी के केवल एक लेखक को छोड़कर, बीच की पीढ़ी के उपस्थित कवियों और लेखकों ने, एक के बाद एक, यह घोषणा की कि नया कुछ महत्व का नहीं आ रहा और जो कुछ भी हो रहा है, वह पहले से चले आ रहे का विकास-मात्र है···(बोलनेवालों में अधिकांश यही कहना चाहते थे कि जब वे साहित्य में आये थे, तब उन्होंने कुछ नया अवश्य दिया था। पर आगे आनेवाले कुछ नया नहीं दे रहे हैं।)

···गत वर्ष दिसम्बर के अन्तिम सप्ताह में कलकत्ता में कथा-समारोह हुआ। उसमें जो भाषण अथवा वाद-विवाद हुए, उनकी रिपोर्ट धर्मयुग में छपीं। ८७ फरवरी के अङ्क में कमलेश्वर ने लिखा, '···नयी कहानी इसीलिये विकसित होती आयी है और ६० के बाद के महत्वपूर्ण लेखकों की कहानी भी उसी 'नये' से जुड़ी हुई है।···' याने इन बीच के कथाकारों ने हिन्दी कहानी को जो नयापन

दिया था, उसी का विकास सातवें दशक के कथाकार कर रहे हैं, नया कुछ नहीं दे रहे ।)

…रायपुर (मध्य प्रदेश) से निकलनेवाली एक छोटी पत्रिका 'संज्ञा' के कहानी अङ्क में 'प्रश्नों भरा आकाश' शीर्षक के नीचे, श्री राजेन्द्र अवस्थी ने (जो यथार्थ में बीच के कथाकार हैं, यह और बात है कि १०० कहानियाँ लिख लेने के बावजूद, कमलेश्वर ने, घोर सम्पादकीय बददयानती का परिचय देते हुए, उन्हें 'नयी कहानियाँ' के नये हस्ताक्षरों में शामिल कर लिया था) लिखा, 'मैं नहीं समझता कि सन् ६० में आकर कहानी कहीं बदल गयी है । हाँ, कुछ नयी प्रतिभाएँ कहानी के क्षेत्र में सामने आयी हैं । उन्होंने यथार्थ को पकड़ने की कोशिश की है, लेकिन उनका यथार्थ वह नहीं है, जो उन्हें उसके पहले की कहानी से अलग कर सके । …सन् ६० के बाद का विकास नयी कहानी का विकास है ।' (याने बीच के कथाकारों ने अपने से पहले चली आनेवाली 'नयी कहानी' का विकास नहीं किया, एकदम नये युग का सूत्रपात किया, जिस पर सातवें दशक के कथाकार चल रहे हैं)—राजेन्द्र अवस्थी की आवाज प्रकट ही हिज-मास्टर्स-वायस है ।

*

एक सशक्त नयी पीढ़ी को सामने खड़ी देखकर बीच के इन कथाकारों को लगता है कि उनके झूठ का मुलम्मा उतर रहा है । जमीन उन्हें अपने नीचे से बेतरह खिसकती दिखायी देती है, और पुराने पड़ जाने के एहसास से वे बेतरह संत्रस्त दिखायी देते हैं । उनका यह संत्रास और बौखलाहट देखकर मुझे प्रायः हँसी आती है—क्योंकि चन्द ही वर्ष पहले इन लोगों ने कुछ अजीब-सी तर्कातीत धाँधली से यह शोर मचाया था कि वे एकदम नये हैं, पुरानी परम्पराओं से कट गये हैं और 'नया भाव-बोध', 'नये आयाम', 'नयी सम्प्रेषणीयता', और न जाने किस-किस 'नये' का झण्डा बुलन्द करते हुए, उन्होंने अपने-आपको हिन्दी कहानी के नये युग-प्रवर्त्तकों के रूप में प्रतिष्ठित करने का निहायत भोंडा प्रयास किया था । तब मैंने 'लहर' के एक विशेषांक में विस्तार से बताया था कि उनके यहाँ कितना काम नया है, और कितना ज्यादा परम्पराओं से जुड़ा हुआ है ।

मेरे उस लेख का आज तक किसी ने तर्कपूर्ण उत्तर नहीं दिया और वे लोग निरन्तर अपने 'नये' होने का शोर मचाते रहे । मुझे इसी बात पर हँसी आती है कि झूठ का यह भ्रम-जाल इतनी जल्दी टूट गया । और पुरानों को 'चुका हुआ' घोषित करनेवाले आज स्वयं अपने को 'चुका हुआ' महसूस कर रहे हैं ।

मैं गत चालीस वर्षों से कहानी लिखता आ रहा हूँ और मैंने कहानी के सब दौर देखे हैं और मेरा यह निश्चित मत है कि हिन्दी-उर्दू कहानी में एक नया युग १९३०-३६ के बीच शुरू हुआ था, जिसका प्रसार लगभग बीस-पचीस वर्ष रहा। और दूसरा साठ के चार-छै वर्ष पहले शुरू होकर अब जोरों पर आया है। बीच के जमाने में नयी प्रतिभाएँ आयीं, उन्होंने यथार्थ को पकड़ने का प्रयास भी किया, पर राजेन्द्र अवस्थी से शब्द उधार लूँ, तो कहूँ कि, उनका यथार्थ वह नहीं था जो उन्हें पहले के कथाकारों से अलग करे। यथार्थ ही की बात नहीं, भाषा, शिल्प और दृष्टि में भी (उन चन्द प्रयोगों के बावजूद जो इस काल में कुछ बीच के कथाकारों ने किये) उन्होंने हिन्दी कहानी को कुछ ऐसा 'नया' नहीं दिया जिसका सूत्रपात पुरानों ने न किया हो—कुछ ऐसा नया, जो इन बीच के कथाकारों को अपने उन समकालीन पूर्ववर्तियों से स्पष्टतः अलग कर सके, जिन्होंने अपने को प्रेमचन्द-युग की आदर्शवादी धारा से मुक्त किया था और आज भी निरन्तर लिख रहे हैं।

१९३० में लखनऊ से उर्दू - कहानियों का एक संग्रह छपा था, जिसने उस समय तक बड़े इत्मीनान से चली आनेवाली प्रेमचन्द और सुदर्शन की कहानी-धारा को जबरदस्त धक्का पहुँचाया था। उस संग्रह का नाम था 'अंगारे'। उसमें पाँच कहानियाँ सज्जाद जहीर की, दो अहमद अली की, दो डॉ० रशीदा जहाँ की, और एक महमूदुज्जफर की थी। ये कहानियाँ एकदम बेबाक थीं, यथार्थवादी थीं, मनोवैज्ञानिक थीं और सेक्स का चित्रण परम निस्संकोचता से करती थीं। इनमें सज्जाद जहीर की कहानी 'नींद नहीं आती' पर बहुत शोर मचा था। उसी जमाने में छपनेवाली अहमद अली की प्रसिद्ध कहानी 'हमारी गली' का प्रभाव भी इतना ज्यादा रहा कि आज कृष्ण बलदेव वैद की 'बदबूदार गली' तक साफ चला आया है। इन्हीं लेखकों ने 'प्रगतिशील लेखक संघ' की नींव १९३५ में लन्दन में डाली और फिर वापस आकर १९३६ में संघ का पहला अधिवेशन भारत में किया। प्रेमचन्द और जैनेन्द्र ने प्रमुख रूप से उस अधिवेशन में भाग लिया।

इन कहानियों और इनके द्वारा आप-से-आप चल पड़नेवाली नयी यथार्थवादी धारा के अन्तर्गत ऐसी कहानियाँ लिखी जाने लगीं, जैसी न प्रेमचन्द लिखते न उनके समकालीन— वे चाहे सुदर्शन हों, कौशिक हों, जिज्जा हों, राजेश्वरप्रसाद सिंह हों, राजा राधिकारमणप्रसाद सिंह हों, अथवा पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र (जो अपने समकालीनों में विद्रोही समझे जाते थे)। इन कहानियों का प्रभाव एक ओर उर्दू के कथाकारों पर पड़ा, दूसरी ओर हिन्दी-कथाकारों पर। बात चूँकि हिन्दी कथा-साहित्य की हो रही है, इसलिए कहा जाय कि जैनेन्द्र, यशपाल और अज्ञेय—

सब पर उस धारा का प्रभाव पड़ा। जैनेन्द्र, यशपाल और अज्ञेय की यदि पहले की कहानियाँ पढ़ी जायें और फिर बाद की, तो इस प्रभाव का तत्काल पता चल जायगा। जैसे जैनेन्द्र के कथा-संग्रह 'फाँसी' की कहानियों में यथार्थता और मनोवैज्ञानिकता की कमी है, लेकिन उनकी 'राजीव और उसकी भाभी' तथा 'ग्रामोफोन रेकार्ड' में ये दोनों तत्व आप-से-आप आ गये हैं। यह जरूरी नहीं कि इन लोगों ने 'अंगारे' की कहानियाँ पढ़ी ही हों। केवल उन लेखकों के साथ बैठ-उठकर, नयी धारा के सम्बन्ध में चर्चा सुनकर भी धारा का प्रभाव पड़ता है। जैनेन्द्र ने उसी धारा के प्रभाव में भाषा को तोड़ा और अपनी कहानियों में मनोवैज्ञानिकता और सेक्स का पुट दिया। यशपाल ने अपनी कहानियों को मार्क्सवादी विचारधारा का वाहन बनाते हुए यथार्थवादी कहानियाँ लिखीं। अज्ञेय की भाषा प्रसाद-जैसी ही क्लिष्ट और संस्कृत-निष्ठ रही, पर नितान्त व्यक्तिवादी कहानियों के स्थान पर उन्होंने कुछ दिन यथार्थवादी, समाजपरक कहानियाँ लिखीं—'रोज' (गेंग्रीन) और 'जीवनी शक्ति' उसी जमाने की याद हैं; उसी धारा में बाद में लिखी जानेवाली 'शरणार्थी' की चारों कहानियाँ आती हैं। मैं स्वयं १९३६ तक लगभग दस वर्ष पहले प्रेमचन्द और सुदर्शन, फिर 'मोपासाँ' और ओ' हेनरी के रंग में कहानियाँ लिखता रहा था। इस नयी यथार्थवादी धारा के अन्तर्गत मैंने 'डाची', 'अंकुर', 'पिंजरा', 'चट्टान', 'बैंगन का पौधा', 'काकड़ाँ का तेली' और 'उबाल' जैसी नयी कहानियाँ लिखीं। और-तो-और, स्वयं प्रेमचन्द पर भी उस धारा का प्रभाव पड़ा। 'कफन' और 'मनोवृत्तियाँ' उसी जमाने की याद हैं। उस युग से पहले और बाद की कहानियों में एक स्पष्ट विभाजन-रेखा निष्पक्ष आलोचक को दिखाई दे जायगी—शिल्प में, भाषा में, सम्वेदना में, दृष्टि में।

मैं यह पूछना चाहता हूँ कि क्या बीच के कथाकारों के यहाँ १९३६ से चली आनेवाली इन कहानियों से अलग कोई स्पष्ट विभाजन-रेखा है ?

उस युग की कहानियाँ, वे जैनेन्द्र की हों, (और अज्ञेय जैनेन्द्र में शामिल हैं।) यशपाल की, या अश्क की, शिल्प, शैली, भाषा और आधारभूत विचारों की दृष्टि से प्रेमचन्द-युग से नितान्त भिन्न हैं। क्या वैसी स्पष्ट भिन्नता अपनी कहानियों के माध्यम से बीच के कथाकार दिखा सकते हैं ? सुविधा के लिए, यादव हों या कमलेश्वर, जैनेन्द्र को लेकर विभिन्नता दिखाते हैं, लेकिन जैनेन्द्र उस नये यथार्थवादी आन्दोलन के, जो १९३६ से १९५६ तक पूरे जोरों पर रहा, एक कोण हैं। उन्होंने तब तक चली आनेवाली ठस भाषा को तोड़ा, उसे बोल-चाल की भाषा के कुछ नजदीक लाये और अवचेतन में झाँकने का प्रयास किया। यथार्थता

का वैसा आग्रह उनके यहाँ नही था, प्रगतिशील दृष्टिकोण भी ('अपना पराया' और 'पाजेब' जैसी दो-चार कहानियों को छोड़कर) उनके यहाँ नही था। लेकिन मनोवैज्ञानिकता—विशेषकर सेक्सगत स्थितियो को लेकर—उनके यहाँ थी। और यह उसी नयी यथार्थवादी धारा के प्रभाव स्वरूप था। यशपाल के यहाँ काफी प्रगतिशीलता थी, यथार्थता भी थी, लेकिन उनकी कहानियो का एक सेट फार्मूला था। वे मार्क्सवादी विचारधारा से उद्भूत एक यथार्थ समस्या को लेते और उस पर कल्पना से पात्र फिट कर देते और अपनी वात खासे तीखेपन से कह देते। मेरे यहाँ दोनो का समावेश था।—मार्क्सवादी विचारधारा भी और मनोवैज्ञानिकता भी। मैं जिंदगी से घटनाएँ और यथार्थ पात्र उठाता और उनके चित्रण से समस्याओ और मूल्यो का संकेत करता। आज की भाषा में कहूँ तो, १९३६ के वाद मैंने विना 'भोगे' अथवा 'झेले'—दूसरे शब्दो मे विना फर्स्ट हैण्ड अनुभव प्राप्त किये—कम ही कोई कहानी लिखी।—यथार्थता, मनोवैज्ञानिकता, सीधी सरल भाषा, प्रगतिशीलता; लेकिन उसके बावजूद सत्य के प्रति एक जबरदस्त आग्रह—यथार्थ स्थितियो की ऐसी आलोचना कि पाठक चाहें तो यथार्थ स्थिति को जानकर उसका निराकरण करें, चाहें आदर्श बनायें या तोड़ें—अपनी यात कहने को मैंने यही सिद्धांत बनाये और बड़े ही सूक्ष्म व्यंग्य को साधा और माँजा।

और इन तीनों कोणों की समग्रता से ही उस नये युग का पूरा मूल्यांकन किया जा सकता है। कोई बीच का कथाकार जैनेन्द्र, अज्ञेय अथवा यशपाल में से किसी एक की कहानी को सामने रखकर अपने नयेपन का सबूत दे सकता है, लेकिन चारो को सामने रखकर शायद ही कोई ऐसा कर सके।

कमलेश्वर ने 'नयी धारा' के 'समकालीन-कहानी-विशेषांक' में शरच्चन्द्र के 'दीदीवाद' तथा जैनेन्द्र के 'भाभीवाद' पर व्यंग्य किया है। मैं उन्हें पहले यह बताना चाहता हूँ कि उनके दोस्त श्री राजेन्द्र यादव आज भी दादा और दीदीवाद से बेतरह आक्रान्त हैं—उनके 'उखड़े हुए लोग,' 'शह और मात' और 'अनदेखे अनजान पुल' में वह शरच्चन्द्रीय दीदी-दादावाद कहीं खुले और कहीं छद्म रूप में मिल जायगा। फिर, मैं उन्हें यह बताना चाहता हूँ कि जैनेन्द्र की 'राजीव और उनकी भाभी' (जिससे कि भाभीवाद की धारा चली) अपने में क्रान्तिकारी कहानी थी, जो उस जमाने के दमित सेक्स को वाणी देती थी। और बीच के कथाकारो ने शोर चाहे जितना मचाया हो, एक भी ऐसी कहानी नहीं लिखी, जो कोई नयी धारा चला दे, अथवा कहानी-साहित्य को नया मोड दे दे। उन क्रान्तिकारी कदमों का, जो उस युग में उठाये गये, बीच के तमाम कथाकारों पर कितना प्रभाव है, इसे वे अपनी कहानियों का निरपेक्ष विश्लेषण करके जान सकते हैं। बीच के

कथाकारों को तो यह भी मालूम नहीं कि उनका सारा चिन्तन, उनकी शैली, उनकी भाषा, उनकी दृष्टि, उन्हीं पूर्ववर्ती, पर समकालीन कथाकारों का विकास भर है। दूसरों की बात छोड़ दें तो जैनेन्द्र के कई प्रयोग और शब्द और वाक्य-विन्यास बाद में आनेवाले कथाकारों ने अपना लिये और उन्हें यह भी मालूम नहीं कि वे जैनेन्द्र की देन हैं।

इस वस्तुस्थिति का कारण साफ है। बीच के कथाकारों ने अपनी तमाम अनुभूतियाँ उसी युग में अर्जित कीं, अपना बचपन और किशोरावस्था उसी युग में बिताये। स्वतंत्रता के कुछ वर्ष बाद तक तो आजादी का नशा रहा—आशा रही कि सपने सच होंगे, लेकिन बाद में जो भयानक विघटन हुआ, चूँकि वह बीच के इन कथाकारों के बचपन और किशोरावस्था में नहीं घटा, (जब कि प्रभाव गहरे और अमिट होते हैं।) इसलिए उनके विचारों का अंग चाहे बना हो, उनकी अनुभूति का अंग नहीं बन पाया। यही कारण है कि 'संकेत' की सारी कहानियाँ (जिनमें से अधिकांश का उल्लेख नामवर ने अपनी पुस्तक 'कहानी : नयी कहानी' तथा कमलेश्वर ने अपने 'नयी धारा' के 'समकालीन कहानी विशेषांक' के अग्रलेख में किया है) मैंने ही चुनी और छापी थीं और उनमें से एक भी मुझे अपने युग से कटी हुई नहीं लगी थी। उसी वर्ष मैंने 'पत्थर-अल-पत्थर' (वर्फ का दर्द) लिखी थी। कमलेश्वर जरा उसे उन सबके साथ रखकर पढ़ें तो उन्हें मालूम होगा कि शायद वह उन सबसे एक कदम आगे ही थी, पीछे नहीं।

*

आज की जो पीढ़ी सामने आयी है, इनका विद्रोह इनकी आरम्भिक रचनाओं अथवा बहस-मुबाहिसों में आज से दस वर्ष पहले शुरू हो गया था। विजय चौहान तथा प्रबोधकुमार की कहानियाँ पत्र-पत्रिकाओं में छपने लगी थीं, श्रीकांत वर्मा और दूधनाथ सिंह के भिन्न स्वर सुनायी देने लगे थे। यही कारण है कि 'धर्मयुग' के सम्पादक ने उन्हें बीच के दशक में शामिल कर लिया। उन दिनों जब राकेश, यादव, शिवप्रसाद, मार्कण्डेय आदि के संग्रह छप चुके थे, विजय चौहान, दूधनाथ, कालिया, प्रबोधकुमार आदि विश्वविद्यालयों में पढ़ते थे। तब बीच के कुछ कथाकारों ने परम अवसरवादिता का परिचय देते हुए कुछ नयी तरह की कहानियाँ लिखने का नितान्त असफल प्रयास किया और अपने असफल प्रयासों के पक्ष में झूठमूठ अपने बाद की पीढ़ी से शब्दावली उधार लेकर चालाकी और चाबुकदस्ती से अपना प्रचार करना शुरू कर दिया। राकेश हों, यादव हों, कमलेश्वर हों, शिवप्रसाद सिंह हों, उनके लिए विजय चौहान, दूधनाथ, ज्ञानरंजन, कालिया तथा उनके साथियों की तरह होना—कम-से-कम उतनी जल्दी—असम्भव था, क्योंकि

थे एक ओर प्रगतिशीलता और दूसरी ओर कथा-शिल्प के उरूज की देन थे और अपने-आपको एकदम बदल पाना उनके लिए मुश्किल था, पर अपने बाद आनेवाले कथाकारों की शब्दावली छीनकर, अपने-आपको एकदम नया और परम्परा से कटा और अकेला और केवल अपने तईं प्रतिबद्ध घोषित करने में क्या खर्च आता था, सो इन हमदमों ने यही किया। बिना इस बात का खयाल किये कि यह शब्दावली इनकी रचनाओं पर फिट भी बैठती है या नहीं, ये सब 'नये'-'नये' का शोर मचाने लगे।

रामविलास शर्मा की विचारधारा का समर्थन करते हुए परम प्रगतिशील कहानेवाले श्री राजेन्द्र यादव इस प्रयास में कहाँ पहुँचे है, इसे उनके द्वारा सम्पादित संकलन 'एक दुनिया समानान्तर' की भूमिका पढ़कर ही जाना जा सकता है, '···नहीं, मानवता, राष्ट्रीयता, सत्य, नैतिकता, धर्म—इन छलावों के प्रति आस्थावान होना गलत है !' नये कथाकारों की शब्दावली चुराकर राजेन्द्र यादव घोषणा करते हैं, '···ये शब्द अव्यावहारिक हैं, अवैज्ञानिक हैं, रूढ़ियाँ हैं'···'हर बाहरी सिद्धान्त, सन्देश और आदर्श झूठा है'···'लेखक की आस्था और कमिटमेन्ट इनमें से किसी को नहीं मिलनी चाहिए। वह किसी के प्रति प्रतिबद्ध नहीं होगा—होगा—तो सिर्फ अपने प्रति' ···'वास्तविकता को पूरी प्रामाणिकता के साथ, पूरी सच्चाई के साथ उभरने दो।'···'नया लेखक बनायेगा नहीं, यथार्थ को रू-ब-रू देखेगा'···'कहानी न 'मैं' की व्यक्तिगत डायरी है और न परिस्थिति की निर्वैयक्तिक रिपोर्टिंग··· ।'

अपनी इस भूमिका में राजेन्द्र यादव ने सातवें दशक के कथाकारों की सारी शब्दावली अपनी पीढ़ी के लिए अपना ली है (क्योंकि संकलन में पुरानो अथवा नयों की एक भी कहानी नहीं।) । उन्होंने अपनी जो बाईस कहानियाँ इस भूमिका में गिनायी हैं, उनमें अधिकांश उनके दावों पर पूरी नहीं उतरतीं। यादव ने कुछ छिट-पुट प्रयोग जरूर किये, पर चूँकि वे फैशन के कारण थे, उनकी अनुभूति का अंग नहीं थे, इसलिए वे अपना टेम्पो बरकरार नहीं रख पाये ('अभिमन्यु की आत्म-हत्या' जैसी दूसरी कहानी उनके यहाँ नहीं मिलती। जाने कहाँ से शैली उड़ाकर वह उन्होंने धर घसीटी थी ?) और आज वे अपने तमाम दावों के बावजूद फिर पुरानी लीक पर चलते दिखाई देते हैं।

अभी पिछले महीने दिल्ली से निकलनेवाले 'विग्रह' के पहले अंक में यादव की एक धारावाहिक लम्बी कहानी शुरू हुई है—'मन्त्रविद्ध।' जरा अपने-आपको 'नया' माननेवाले इस कथाकार की कहानी के शुरू का वाक्य देखिए.

'नथुनों की उस तरह की बनावट और उनके फड़कने को देखकर अक्सर लोगों को कछुए का ध्यान आता है, लेकिन मुझे जाने क्यों, साँप का ध्यान आया।'

कोई पूछे कि किस मकुए को किसी के नथुनों का फड़कते देखकर कछुए का ध्यान आता है ? और चाहे यादव को नहीं मालूम, पर मैं उन्हें बताता हूँ कि तारक दा के नथुनों को फड़कते देखकर क्यों उन्हें साँप का ध्यान आया ?
इसलिए कि उन्हें 'मन्त्रविद्ध' कहानी लिखनी थी। 'मन्त्रविद्ध' इसलिए कि जगदीश गुप्त के काव्य-संग्रह का नाम 'हिमविद्ध' उन्हें बहुत अच्छा लगा था। उस नाम पर सोचते हुए उनके दिमाग में उसी के वजन का नाम कौंधा 'मन्त्रविद्ध'! और चूँकि इस विश्वास के बारे में उन्होंने सुन रखा है कि साँप को मन्त्र से बाँधा जा सकता है, इसलिए उन्होंने समाचार-पत्र की एक खबर से क्यू लेकर एक नायक को गढ़ा, जिसके नथुनों की फड़कन देखकर कहानी कहनेवाले को साँप का ध्यान आ जाय ! (सचमुच किसी के नथुनों की फड़कन देखकर किसी को मेढ़क, कछुए अथवा साँप का ध्यान आता है, इससे गरज नहीं। पर यादव को आता है। साँप मन्त्र से वस में न होगा तो कहानी का शीर्षक 'मन्त्रविद्ध' कैसे होगा !)···और ऐसे बने हुए शीर्षक, ऐसी बनी हुई कहानी, फूहड़ता से गढ़े हुए अविश्वसनीय, असफल पात्र लेकर, आज ये बीच के नितान्त कनफ्यूज्ड, फैशनपरस्त कथाकार-हमदम राजेन्द्र यादव समझते हैं कि वे 'भोगी' अथवा 'झेली' हुई कहानी लिख रहे हैं।
लेकिन ऐसी झूठी कहानी को जमाने के लिए यह कथाकार (जो 'सारिका' के अपने वक्तव्य के अनुसार गुट बनाना नहायत जरूरी समझता है जब कि हर जेनुइन लेखक जानता है कि उसका कोई गुट नहीं हो सकता। क्योंकि हर गुटबाज झूठा भी होता है, समय-साधक भी, और कायर भी।) 'विग्रह' के दूसरे ही अंक में कितना बड़ा झूठ बोलता है ! कहानी के नाम को जमाने के लिए पत्रिका का आधा पृष्ठ बेकार कर (जिसमें कि जासूसी उपन्यास की तेकनीक से निकल पाने में नितान्त असफल यह लेखक अ-उपन्यास तथा अ-कहानी तक का झंडा भी बुलन्द करता है !) यादव टॉमस मान का भारी-भरकम नाम पाठकों पर थोपते हुए कुछ अजीब-सी झूठी प्रसव-पीड़ा से कराहते हुए कहता है : 'कहानी-भाषा की तलाश मेरा दूसरा चिन्ता-केन्द्र रहा है। अपने को उन विशेषज्ञों के बीच पाने का अभिशाप हम सब ढो रहे हैं, जो भाषा की दरबारी नक्काशी से ऊपर नहीं उठ पाते, जिनके साहित्य-संस्कार छायावाद-युग के हैं। आज भी वही खुमारी (हैंग-ओवर) उनकी निगाह धुँधलाये हुए है। जड़ाऊ शब्दोंवाली पन्त-प्रसाद-महादेवी की तरल भाषा में पगी शरच्चन्द्रीय कहानियाँ जिनके भाव-बोध को अधिक छूती हैं।'
इतनी प्रसव -पीड़ा और आत्म-मंथन के बाद श्री यादव ने जो नयी भाषा 'ईजाद'

की है, उसका ज़िक्र करने से पहले मैं उनसे यह पूछना चाहता हूँ कि कृपया यह तो बताइए—कौन कथाकार हैं जो (पन्त-प्रसाद-महादेवी नहीं) प्रसाद-पन्त-महादेवी की तरल भाषा लिखते है—क्या भगवती बाबू? क्या अमृतलाल नागर? क्या यशपाल? और क्या अश्क?—कहानी में वह भाषा तो कभी चली ही नहीं—अज्ञेय ने जरूर चलाने का प्रयास किया, और उनकी नकल में सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, नरेश मेहता आदि ने, पर वे स्वयं कहानी की मुख्य-धारा से कट गये।

कोई इन महानुभाव से यह पूछे कि उनकी भाषा यशपाल या अश्क की भाषा से कहाँ भिन्न है—सिवा इसके कि उन्होने (जानकर नहीं, अनजाने) भाषा के गलत प्रयोग किये है और फैशन में अँग्रेजी लिखी है तो गलत लिखी है। 'विग्रह' के पृष्ठ ३६ पर दो बार उन्होंने लिखा है—'तारक दिसिज लिमिट···दिमिज लिमिट।' एक ही बार होता तो समझते कि 'द' आर्टिकल प्रेस की गलती से उड़ गया है। पर दोबारा वही गलती हमदम यादव की जानकारी का भरम ऐन चौराहे में खोल देती है।

लेकिन चूँकि सातवें दशक का कथाकार जबान के मामले में आगे बढ़ा है, यादव कैसे पीछे रह सकते है? बिना यह जाने-समझे कि नये कथाकार ने जबान के मामले में कहाँ परिवर्तन किया है, वे कोठे पर चढ़कर चिल्लाने लगे हैं कि मैं भी नयी भाषा को जन्म देने की प्रसव-पीड़ा झेल रहा हूँ!

'नयी' कहानी के दूसरे (जबरदस्ती के) अलमबरदार कमलेश्वर है। इधर मैंने उनके तीन कथा-संग्रह एक साथ पढे हैं और इतना झूठा (फेक) कथाकार उनके साथियों में शायद दूसरा नहीं। उनके यहाँ प्रभाव-ही-प्रभाव है, निज का कुछ नहीं। उनके पास अनुभूतियाँ न हो, ऐसी बात नहीं है। खासे संघर्ष और दन्द-फन्द की जिन्दगी उनकी रही है, लेकिन अपनी सची अनुभूतियों को बेबाकी से अभिव्यक्त करना उनके लिये असम्भव है। क्योंकि तब लेखक को सच बोलना पड़ता है और सच बोलना उन्हीं के हमदम राजेन्द्र यादव के कथनानुसार कमलेश्वर के लिये मुश्किल है। 'कमलेश्वर? कमलेश्वर साला सच बोल दूँ नहीं सकता···', दुष्यन्त के हवाले से राजेन्द्र यादव 'मेरा हमदम मेरा दोस्त' में लिखते हैं, 'जरा-जरा-सी बातो में और बिना वजह झूठ बोलता है।'···तब ऐसा झूठा व्यक्ति अपने 'भोगे' और 'झेले' हुए को निर्भीकता से कैसे व्यक्त कर सकता है? सो कमलेश्वर के यहाँ अपना 'भोगा' या 'झेला' ज्यादा नहीं। महज प्रभाव हैं। कभी बहुत पहले मैंने 'गिरती दीवारें' का एक परिच्छेद 'चेतन की माँ' के नाम से 'हंस' में छापा था। कमलेश्वर ने उन्हीं दिनों झट 'देवा की माँ' घसीट डाली। इच्छा

ईर्ष्या - वश ऐसा किया जा रहा है, शत्रु की प्रशंसा करो तो समझेंगे कि अपने गुट में मिलाना चाहते हैं। इसलिए नये आलोचकों को अपना दिल काफी मजबूत करके आलोचना के क्षेत्र में उतरना पड़ेगा। यह चेतावनी मैं उन्हें अभी से देता हूँ कि उनके इन्हीं समकालीनों में से कोई उनकी नेकनियती का विश्वास नहीं करेगा।

*

गत पाँच-छः वर्षों में जितनी नयी कहानियाँ और लेख छपे हैं, उनमें से अधिकांश मैंने पढ़े हैं। मुझे लगता है कि सातवें दशक के लेखकों में चार तरह के कथाकार हैं :

(१) जो लेखक वास्तव में बीच की पीढ़ी के हैं, पर पीछे न पड़ जाने के भय से नयी तरह की कहानियाँ लिखने का प्रयास कर रहे हैं। नहीं भी लिख पाते तो अपने 'नये' होने का शोर मचाते रहते हैं।

(२) वे लेखक जिन्होंने कथा-लेखन का प्रारम्भ इसी युग में किया है, लेकिन जिनके संस्कार, भाव-बोध, सम्वेदना, शिल्प अथवा दृष्टि पुराने जमाने की है।

(३) जो सातवें दशक के हैं और धड़ाधड़ कहानियाँ भी लिख रहे हैं, पर जो लेखक नहीं हैं। याने रचनाकार नहीं हैं। पैसे के लिए लिखते हैं अथवा फैशन में लिखते हैं और जो नारे हवा में उछलते हैं, अन्धाधुन्ध उन्हें अपना लेते हैं। अपने भोगे और झेले को पचाकर उसे कला का स्वरूप देने के बदले तत्काल उसका वमन कर देते हैं, और जब उनकी रचनाओं की चर्चा नहीं होती तो नाम न लेनेवालों अथवा आलोचना करनेवालों को गालियाँ देते हैं।

(४) वे जो इस नये युग के अगुवा हैं—जिनकी रचनाओं में इस नये युग का एक-न-एक ऐसा संकेत मिलता है, जो उन्हें अपने पूर्व-वर्तियों से अलग करता है।

मेरे इस लेख का विषय पहली, दूसरी और तीसरी तरह के लेखक नहीं हैं। केवल चौथी तरह के लेखक हैं। याने वे लेखक, जिन्हें मैं नये शिल्प, नयी भाषा, नयी सम्वेदना और नयी दृष्टि का वाहक समझता हूँ, और चूँकि मेरे पास अध्यापकी शब्दावली नहीं है, इसलिए ढेरों कहानियाँ पढ़ने के बाद, जिन कहानियों के माध्यम से मुझे नये युग की आमद का संस्पर्श मिला है, उनका उल्लेख कर, मैं उन विभाजन-रेखाओं को स्पष्ट करने का प्रयास करूँगा जो नये युग के कथाकारों को बीच की पीढ़ी अथवा पुरानी पीढ़ी से एकदम अलग कर देती हैं।

* शिल्प

सबसे पहले जो बात इन कहानियों में अनायास दृष्टि को आकर्षित करती है, वह उनमें से कुछ लेखकों की कहानियों के कलेवर की लघुता है। १९३० से ६०

तक हिन्दी-कहानी धीरे-धीरे स्तर-दर-स्तर पेचीदा और गहरी होती गई है। मेरी लगभग एक ही थीम पर लिखी हुई कहानियाँ—'उबाल,' 'बेबसी,' और 'झाग और मुस्कान' को पढ़े तो इस अंतर का पता चल जाता है। राकेश के 'इन्सान के खंडहर' और 'एक और जिन्दगी' की कहानियों में, निर्मल वर्मा की 'दहलीज' और 'परिन्दे' में, यादव की 'लक्ष्मी कैद है' के पहले और बाद की कहानियों में यह अन्तर बखूबी दिखायी दे जाता है। कारणों की खोज बाद में की जा सकती है, लेकिन सातवें दशक में सहसा कहानी सरल और संक्षिप्त हो गयी है—यह और बात है कि जहाँ ऐसा नहीं हुआ, वहाँ भी दृष्टि बदल गयी है। लेकिन दसियों कहानियाँ मेरे दिमाग में घूमती हैं, जो सरल, सीधी और कलेवर में छोटी हैं—विजय चौहान की 'बेसमेंट', उन्हीं की तरह प्रयाग शुक्ल की लगभग सभी कहानियाँ, रवीन्द्र कालिया की 'बड़े शहर का आदमी', ज्ञानरंजन की 'फेंस के इधर और उधर', अनीता औलक की 'लाल परांदा', महेन्द्र भल्ला की 'बोहनी', प्रबोधकुमार की 'आखेट', गिरिराज किशोर की 'अलग-अलग कद के दो आदमी' और भीमसेन त्यागी की 'शमशेर'। अभी कुछ ही दिन पहले छपे 'उत्कर्ष' के अंक में प्रदीप पन्त की कहानी 'महान सिद्धान्तों का बड़ा युद्ध' भी ऐसी ही चुस्त और संक्षिप्त कहानी है। आलोक शर्मा और अतुल भारद्वाज की कहानियाँ कैसी भी दुरूह क्यों न हों, कलेवर में छोटी हैं।

लघु कलेवर के अलावा इन कहानियों में नायक का, और कहीं तो पात्रों तक का, नाम और अता-पता लुप्त हो गया है। अब अधिकांश कहानियों का नायक महज 'वह' है। कहानियों के कलेवर की तरह वाक्यों का कलेवर भी छोटा हो गया है। छोटे-छोटे चुस्त, (प्राय: व्यंग्य भरे) वाक्य! नपी-तुली, चुस्त, संक्षिप्त कहानियाँ—कभी एलिगरी-सी, कभी फैंटेसी-सी, कभी चुटकुले, कभी स्केच-ऐसी, कभी किसी घटना के इकहरे चित्रण-सी, कभी किसी छोटी-सी गहरी थीम की सशक्त अभिव्यक्ति-सी।—और यह पहली विभाजन-रेखा है जो पाठक का ध्यान अपनी ओर खींचती है।

☸ भाषा

सातवें दशक की कहानियों में भाषा काफी बदल गयी है। यूँ तो भाषा का यह परिवर्तन काफी पहले से शुरू हो गया था, तो भी एक परिष्कृत भाषा का आग्रह हर अच्छा लेखक करता था और बीच के लेखकों ने भी ऐसा किया। लेकिन सातवें दशक के कथाकार, ऐसा लगता है जैसे, जान-बूझकर भाषा को ऊबड़ और ऊबड़-खाबड़ बना रहे हैं—'सद्य-स्नातः', 'प्रातःस्मरणीय', 'अनिमेष दृगों से',

'निर्निमेष देखता रहा', और ऐसे ही बेगिनती शब्द और वाक्य-खण्ड उन्होंने अपनी भाषा से निकाल दिये हैं। प्रकृति-चित्रण में भी रूमानी शब्दावली को उन्होंने हटा दिया है। और यदि यह अजाने किया होता तो शायद दोष होता, लेकिन जैसा कि मैंने कहा, जान-बूझकर एक खास तरह का प्रभाव पैदा करने के लिए उन्होंने ऐसा किया है। उर्दू शब्दों का प्रयोग प्रेमचन्द भी करते थे, मैंने भी किया है, बाद के लोग भी करते रहे। लेकिन हम लोगों ने सदा इस बात का ख्याल रखा कि भाषा का प्रवाह कायम रहे और क्लिष्ट हिन्दी शब्दों के साथ क्लिष्ट उर्दू शब्द न आयें और जहाँ हिन्दी शब्द से काम चले, वहाँ उर्दू शब्द न रखे जायें। लेकिन सातवें दशक के कथाकार इस बात का ख्याल नहीं करते। एक खास तरह की रूखड़ अभिव्यक्ति उन्हें अभीष्ट है और इसके लिये वे रुखड़ शब्द इस्तेमाल करते हैं। उदाहरण के लिए—'वह मुझसे प्रेम करती है', ऐसा कहना सातवें दशक के कथाकार को पसन्द नहीं, वह यह कहेगा, 'वह मुझसे फँसी है।' 'प्रसन्नता आरम्भ हो गयी थी' की जगह वह 'प्रसन्नता शुरू हो गयी थी' लिखेगा (हालाँकि यह वाक्य पुराना कथाकार लिख ही नहीं सकता) और 'आश्चर्य और संदेह' की जगह 'आश्चर्य और शुबहा'। मैं नीचे ज्ञानरंजन और काशीनाथ की कहानियों से यूँ ही सामने पड़ जानेवाले दो उद्धरण देकर अपनी बात स्पष्ट करूँगा।

'मैं अनुभव कर रहा हूँ कि मेरी संजीदगी बहुत हास्यास्पद होती जा रही है और कोई तीव्र प्रतिक्रिया ही मेरी रक्षा कर सकती है। मुझे मालूम है कि यह गम्भीरता बहुत घटिया और बर्दाश्त के बाहर की चीज है। मुझे खुद ही इससे खूँख्वार घुटन होने लगती है।' (—सम्बन्ध, ज्ञानरंजन)

('अनुभव' और 'हास्यास्पद' के बीच 'संजीदगी' नहीं 'गम्भीरता' होना चाहिए और 'बर्दाश्त के बाहर' की जगह केवल 'असह्य' से काम चल सकता है।)

और एक उद्धरण देखिए—

'ठीकै, ठीकै, मगर सा व से कै दे तो ?'

'वो नहीं कै सकती, मैं जान्ता हूँ।'

'मान लो, कै दे।'

'कै दे अपनो बला से, मेरे को क्या ?'

मेरे इस उत्तर की उसे उम्मीद न थी। मैंने अपने को और साफ किया, 'तुम जान्ते हो, सा व मेरा कुछ नहीं उखाड़ सकता। वह जितना मुझे जान्ता है, उसे मैं उससे ज्यादा जान्ता हूँ।' (—अपने लोग, काशीनाथ)

और ऐसे पचासों उदाहरण नयी कहानियों से मैं दे सकता हूँ। आंचलिक अथवा अँग्रेजी शब्दों का इतना बाहुल्य भाषा में पहले कभी दिखायी नहीं दिया। यह सब अच्छे के लिए हो रहा है या बुरे के लिए, इस बात से बहस नहीं। हो रहा है और यह नयी कहानी को पुरानी से स्पष्टतया विभाजित करता है।

६ सम्वेदना

सबसे ज्यादा अन्तर मुझे पुरानी और नयी कहानियों की सम्वेदना में दिखायी पड़ता है—कभी-कभी तो यह लगता है कि नये कथाकारों की सम्वेदना चुक गयी है। पुराने रिश्ते उनके निकट महत्त्व के नहीं रहे। पुराने आदर्श और पुरानी नैतिकता उनके लिए पोच हो गयी है। वह जबरदस्त विघटन, जो आजादी के बाद हमारे देश के धार्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रों में हुआ है, उसका प्रतिबिम्ब सातवें दशक के इन कथाकारों की रचनाओं में स्पष्ट परिलक्षित होता है। एक अजीब-सा हाइब्रिड (दोगला) कल्चर इनमें रूप धरता दिखाई देता है—कुछ अजीब-सा निनिसिज्म, अनास्था, अनैतिकता, क्रूरता, दिखावा, सारी पुरानी मान्यताओं को तोड़ देने का एमेच्योर हठ, अँधेरे में टामकटोये मारनेवाले आदमी के असोचे प्रयास, अपनी धुरी से अलग होकर हवा में घूमनेवाले ग्रह की-सी उद्देश्यहीनता—यह सब नये कहानीकारों के यहाँ दृष्टिगोचर होता है। जैसा कि मैंने अपने लेख के शुरू में कहा था, पुराने आदर्शों और आस्थाओं को इन्होंने अपने बचपन और किशोरावस्था में नहीं देखा। इन्होंने महात्मा गाँधी के संकेत पर बड़े-बड़े जमे हुए अफसरों, वकीलों, जजों, धनपतियों को अपना सब-कुछ न्यो-छावर करते नहीं देखा। एक आदर्श के पीछे खुदीराम बोस और भगतसिंह जैसे नौजवानों को हँसते-हँसते फाँसी के तख्ते पर चढ़ते नहीं देखा। इन्होंने देखा—खादी के कपड़े पहननेवाले नेताओं को झूठ बोलते, रिश्वत लेते-देते और अपने बच्चों को पब्लिक स्कूलों और विलायत की युनिवर्सिटियों में भेजते, हकदारों का हक मारकर अपने भाई-भतीजों को नौकरियाँ देते। आम जनता के किसी साधारण व्यक्ति को किसी बड़े धनपति के मुकाबले खड़ा करने और चुनावों में जिताने की हिम्मत खोकर धनपतियों के इशारों पर नाचते; आम नौजवानों को खुशामद करते और मात्र समय-साधकता और अवसरवादिता से काम लेते हुए अपने कैरियर की सीढ़ियाँ चढ़ते—और इस दुश्चक्र में अपनी मेधा, अपने प्यार, अपने आदर्शों को कुंठित होते—और चूँकि गीता और उपनिषदों के जीवनोपयोगी सिद्धान्तों से उनका परिचय नहीं, अथवा है तो वे उनकी सोच का अंग नहीं बने, इसलिए वह निरपेक्षता उनके यहाँ नहीं है। अपने 'भोगे' अथवा 'झेले' (और चाहे पश्चिम

से उधार लिये गये शब्द—'सोने') को कागज पर उँडेल देने की दुर्दमनीय व्यग्रता उनके यहाँ है। और इससे उनकी सम्वेदना पुराने सभी कथाकारों से कुछ अजीब-सी विकुंचित रूप से भिन्न हो गयी है। मैं अपनी बात के प्रमाण में दर्जनों मिसालें दे सकता हूँ, पर लेख बहुत लम्बा हो जायगा, इसलिए केवल एक मिसाल देकर ही आगे बढ़ जाऊँगा।

तीन-चार साल पहले मैंने विजय चौहान की एक कहानी पढ़ी थी—'मुक्ति'। मुझे उसका हल्का-सा आभास है। उसमें नायक अपनी माँ के प्रति एक वितृष्णा-भरी उदासीनता को अपने अन्दर पालने लगता है और वह मन में सोचता है कि अगर उनका अन्त हो जाय तो अच्छा है, और यह बात उसकी सोच में आ जाती है तो वह एक दिन उनकी हत्या कर देता है।···किसी पुराने अथवा वीच के लेखक के लिए सम्वेदन का यह अंग भयंकर और वीभत्स हो सकता है, और मैं नहीं सोचता कि मेरा परिचित कोई भी पुराना या वीच का लेखक ऐसी कहानी लिख सकता था। लेकिन इस वक्त संसार भर में कोई ऐसा महान व्यक्ति नहीं है जो नौजवानों की श्रद्धा जगाये। साम्यवादी देशों में आपस के गाली-गलौज ने संसार भर के आदर्शवादियों की आस्था को काफी चोट पहुँचायी है। साम्राज्यवादी देशों के ताजिरों ने अपने स्वार्थों के लिए उस सब को बढ़ावा दे रखा है जो मानव की कुप्रवृत्तियों से सम्बन्ध रखता है। अमरीका में हर वर्ष सबसे ज्यादा बिकनेवाली पुस्तकें प्रेम और सेक्स और उसकी असामान्यताओं (एबें-रान्ज) के फार्मूलों से भरी रहती हैं। एटम वम और युद्ध के आसन्न संकट ने क्षण-भोगी सिद्धान्तों को वेतरह प्रश्रय दिया है। इधर देश में स्वार्थी और टुच्चे नेताओं तथा भ्रष्ट अध्यापकों में विश्वास उठ जाने से आम बुजुर्गों के प्रति भी नौजवानों का विश्वास उठ गया है। इस सब का प्रभाव माता-पिता के प्रति आदर पर भी पड़ा है और उनके प्रति यह वितृष्णा (चाहे सोच में ही क्यों न हो) और उसका प्रतिविम्ब सातवें दशक के कथाकारों में मिलता है। केवल विजय चौहान ही में नहीं, इसका एक तार अन्य कहानीकारों में भी स्पष्ट दिखाई देता है। ज्ञानरंजन की कहानी 'सम्वन्ध' की यह पंक्तियाँ देखिए :

'आप यह भी देखिए कि समय मानवीय सम्वन्धों के सिलसिले में किस तरह से काम करता है। एक लम्वे समय तक जो मेरे लिए केवल माँ थी, अव कभी-कभी ही माँ लगती है या माँ का भ्रम ! वलिक कभी-कभी अव ऐसा हो जाता है, न चाहते हुए भी जवड़े दव गये हैं और अन्दर से एक-दो शब्द हिच-किचाती हुई खामोशी के साथ निकल जाते हैं, 'यू वूमैन' ! (ध्वनि : गेट

थनाथ के 'रक्तपात' में यद्यपि माँ के प्रति इस तरह की वितृष्णा तो नहीं है, लेकिन माँ जैसी नारी की हत्या का संदर्भ (कारण कुछ भी क्यों न हो) ऐसा ही है। (जिन्दगी में नौजवान बेटे अपनी माँओं की हत्या न करते हों, ऐसी बात नहीं है। देहात में प्रायः जमीन-जायदाद को लेकर भाइयों-भाइयों में झगड़ा होता है तो एक अथवा दूसरे भाई का पक्ष लेने के कारण माता अथवा पिता क्रोध का शिकार हो जाते हैं। शहरी जिन्दगी में ऐसा कम होता है। लेकिन अभी पिछले ही दिनों दिल्ली में म्युनिसिपल कमेटी में काम करनेवाले दो क्लर्क भाइयों ने अपनी माँ, बहन, बहनोई तथा उनके बच्चों की हत्या कर दी—वैसा क्रोध और सम्वेदना का ज्वार नये लेखकों में नहीं है। माता-पिता तथा अन्य सम्बन्धों के प्रति यह वितृष्णा बौद्धिक है और अधिकांशतः सोच के स्तर पर है, भले ही 'मुक्ति' जैसी कहानी में उस सोच को कामू के कैलीगुला की तरह नायक अमली जामा भी पहना दे।

जिन्दगी के प्रति वितृष्णा, ऊब, उसे एकदम निरर्थक मानने का हठ, एक के बाद एक नयी कहानियों में परिलक्षित होता है। अज्ञेय की 'जीवन-शक्ति' हो अथवा अमरकान्त की 'जिन्दगी और जोंक' दोनों में दुर्दम जिजीविषा का प्रदर्शन है। आप अज्ञेय की 'जीवनी-शक्ति' का नाम 'जिन्दगी और जोंक' रख सकते हैं और अमरकान्त की 'जिन्दगी और जोंक' का नाम 'जीवनी-शक्ति'। जिजीविषा के प्रति वितृष्णा भी सातवें दशक के कथाकारों की सम्वेदना में प्रकट होती है।...

बहुत पहले मैंने विजय चौहान की एक कहानी पढ़ी थी। कहीं उसका उल्लेख भी किया था। उसमें नायक अपने कमरे में बैठा सिगरेट पी रहा है और उसकी खिड़की के सामने दूसरे मकानों की बत्तियाँ हैं और वह सोचता है कि उन सबमें अपनी-अपनी तरह की खुशी है। फिर वह सोचता है कि क्या इनमें से वह भी किसी तरह की खुशी का अंग हो सकता है ? तभी वह छत पर एक गिलचट्टे को देखता है। दूसरे क्षण वह गुबरैला फर्श पर पीठ के बल गिर पड़ता है और विवश हवा में हाथ-पाँव मारता है। नायक को लगता है कि उसकी स्थिति गिलचट्टे जैसी है। वह बाहर की सब खुशियों से कट गया है। और वह छत से लटक जाता है। (हो सकता है कि यह इम्प्रेशन विजय चौहान की एक नहीं, दो कहानियों से मिलकर मेरे दिमाग में बना हो, पर है उन्हीं की कहानियों का।) जिन्दगी और उसकी खुशियों की व्यर्थता के प्रति यह भाव और आत्म-हत्या को एक सहज-सी स्थिति मान लेना, उसके प्रति किसी तरह के पाप या आश्चर्य या क्रोध की भावना का न होना भी नये कथाकारों की सम्वेदना का एक अंग है। रवीन्द्र कालिया की कहानी 'बड़े शहर का आदमी' के अन्त में एक मित्र

दूसरे से कहता है, 'देखो, आत्म-हत्या करना हो तो मेरे कमरे में न करना' (याने वह आत्म-हत्या करना चाहता है तो शौक से कर ले, पर उसके क में न करे ।)···ज्ञानरंजन की 'सम्बन्ध' का नायक अपने सगे भाई की आत्म-हत के बारे में बड़ी निरपेक्षता से सोचता है और उसकी प्रतीक्षा करता है, 'हे ईश्व यदि वह मर गया,' वह सोचता है, 'तो सब-कुछ कितना सुखद और शा हो जायगा ।'

सातवें दशक के कथाकारों की सम्वेदना में यदि अनुभूति के स्तर पर उतना न तो सोच के स्तर पर महान अन्तर आया है, (क्योंकि वे अपने माता-पित बहन-भाइयों से उतनी नफरत करते हैं) ऐसा मैं नहीं मानता । सुरेश सिन्हा अपनी कहानी 'मृत्यु और' में पिता के मरने के बाद रोने-रुलाने तथा क्रिया-क के बारे में जो वितृष्णा प्रकट की है—वह बौद्धिक स्तर पर ही है । लेकिन कौ जानता है कि यह अन्तर कुछ लेखकों की अनुभूतियों में भी नहीं आ रहा, या न आयेगा । हमारी राजनीतिक और सामाजिक जिन्दगी जैसी भ्रष्ट है, इ परिवर्तन को रोका नहीं जा सकता ।

सम्वेदना की यह भिन्नता तीसरी विभाजन-रेखा है जो सातवें दशक के कथाका को अपने पूर्ववर्तियों से भिन्न करती है ।

❀ दृष्टि

इस दशक के कथाकारों की सम्वेदना में ही नहीं, दृष्टि में भी एक स्प अंतर दिखायी देता है । प्राचीन काल से रचनाकारों की दृष्टि सत्य, शिव औ सुन्दर की ओर रही है । इसी एक दृष्टि के दो कोण प्रेमचन्द और प्रसाद वे समय से हिन्दी के कथा-क्षेत्र में दिखायी देते रहे हैं—एक सुन्दर का और दूसर शिव का । प्रेमचन्द कला की सोद्देश्यता और समाजपरकता में ज्यादा विश्वा रखते थे, जब कि प्रसाद कला के आदर्शमय सौंदर्य में । सत्य के प्रति दोनों क दृष्टि इसीलिये (इन्हीं दो कारणों से) धुँधली थी । फिर जब १९३६ में 'नयी कहानी' का पहला आन्दोलन शुरू हुआ तो सत्य की कटुता और यथार्थता की बा भी सामने आयी और काफी बेबाकी से आयी—ऐसी कहानियाँ लिखी गयीं जिन्हें लिखने की बात प्रेमचन्द या प्रसाद सोच भी न सकते थे । लेकिन जल ही आजादी की लड़ाई और उसके साथ लगे प्रगतिशील आन्दोलन ने उस दृष्टि क फिर धुँधला दिया और यथार्थता पर सामाजिकता और सोद्देश्यता का पानी च गया । तभी यथार्थता के समाजपरक पहलू अथवा सामाजिक यथार्थ की बा बड़ी जोरों से कही जाने लगी और बेगिनती सोद्देश्य कहानियाँ लिखी गयीं।

ायता पर सोद्देश्यता यानी शिव का रंग चढ़ा और कई बार कला की कीमत : ऐसा हुआ। (नग्न यथार्थ किस हद तक ग्राह्य है, किस सीमा तक लेखक । दृष्टि के दायरे में आता है या आना चाहिये और उसकी क्या उपयोगिता है, । महत्वपूर्ण प्रश्नों में न जाकर, जो हुआ है, मैं उसी की बात ही करूँगा।)
१९५६ तक इस सोद्देश्य धारा का लगभग एकछत्र साम्राज्य रहा है। अज्ञेय, र्मेश्वर, रघुवीर सहाय अथवा नरेश मेहता के माध्यम से यदि व्यक्तिवादी कला-ादी भिन्न स्वर कुछ मुखर भी हुए तो उनका कोई विशेष प्रभाव मुख्य कहानी-ारा पर नहीं पड़ा—राकेश, यादव, अमरकान्त, शिवप्रसाद सिंह, मार्कण्डेय, मलेश्वर, वेद, भीष्म साहनी, रेणु, भारती, कृष्णा सोबती, उषा प्रियम्वदा, मन्नू ण्डारी, शानी—इन सब की दृष्टि, कहीं खुले तौर, पर कहीं कनखियों से, ोद्देश्यता पर लगी रही।
त्य को देखने की ये दोनों दृष्टियाँ सातवें दशक के कथाकारों के यहाँ भिन्न हो यी है। इस दशक के कथाकार की दृष्टि न शिव पर उतनी है, न सुन्दर पर। ह प्रमुखतः सत्य पर है। बेधुँधलाये, कटु, क्रूर और निर्मम सत्य पर। यह ठीक : कि यहाँ भी अच्छे कथाकार उस सत्य को कला के माध्यम से ही व्यक्त करना ाहते हैं, पर उनकी निर्ममता कहीं ज्यादा क्रूर और दुर्वार है। दृष्टि की यह र्नर्ममता और विभिन्नता जितनी आपसी सम्बन्धों के चित्रण में व्यक्त हुई है, उतनी ाजनीतिक और सामाजिक सम्बन्धों में नहीं। इस वस्तुस्थिति के कारण एक ौर रोजी-रोटी की समस्या तथा दूसरी ओर राजनीति, साहित्य तथा संस्कृति के ेत्र में एस्टेब्लिशमेंट के—यानी जबर्दस्त गुटबंदियों के—भय से जुड़े हैं, लेकिन मैं न कारणों में अभी नहीं जाऊँगा क्योंकि यह खोज-बीन, कानूनी शब्दावली का ़हारा लूँ, तो कहूँ, मेरी 'टर्म्स ऑफ रेफ़ेंस' से बाहर हैं। मेरे लिये इस बात का ंकित करना ही यथेष्ट है कि सातवें दशक में लेखकों की दृष्टि सत्य की ओर उतनी टिल्ट कर गयी है—झुक गयी है—जितनी पहले कभी नहीं की। व्यक्तिगत और घरेलू सम्बन्धों में सत्य को उसकी तमाम मिलावटहीन (अन-अडल्टरेटेड) भयावहता के साथ, क्रूरता को पहुँची हुई निरपेक्षता के साथ, जिस तरह सातवें दशक के कथाकार सामने ला रहे हैं, वैसे पहले के कथाकार नहीं ला सके। उनमें साहस नहीं था, ऐसा मैं नहीं कहूँगा। उनके पास वह दृष्टि नहीं थी। यह सब देखकर भी वे अदेखा कर जाते थे। सातवें दशक का कथाकार वैसा नहीं कर पाता। वह अनुभव को किसी मिलावट के बिना पाठकों के सामने प्रस्तुत करना चाहता है। विजय चौहान की कहानी 'मुक्ति' में ये पंक्तियाँ देखिए :
'प्रकाश बिस्तर पर पड़ा आँखें फाड़े छत की ओर देखता रहा। नहीं, माँ के

मरने के बाद यह सब याद नहीं आयेगा । उसके पहले जितनी भी मौतें
हैं वे मर जायेंगी । उन बूढ़ी स्त्री से मेरी माँ का कोई सम्बन्ध नहीं । यह
स्मृतियों की हत्या करके मरेगी ।'

काशीनाथ की कहानी 'आखिरी रात' में पति-पत्नी के बीच प्रेम-प्रसंग
यथार्थ के झटके से टूटता है तो···पति सोचता है :

'यदि यह प्रश्न अभी कुछ समय के लिए टल गया होता (मेरे भीतर जाने क्यों
यह बात उठ रही है) और मैं पत्नी को पूरी तरह प्यार कर सका होता···कुछ
क्षण पहले की तरह और बीत गये होते···

'किन्तु नये सिरे से सोचता हूँ तो लगता है कि हमारी रात का अन्त जब हु
होता—जैसे होता—वह कुछ इसी तरह का रहा होता । बल्कि इससे बेहतर
तो शायद नहीं ही होता ।'

और सम्बन्धों के इस सत्य पर दृष्टि की यह निर्मम कार्न-काउंट महेन्द्र भल्ला की
'एक पति के नोट्स' तथा 'सही घटा' में, गंगाप्रसाद विमल की 'उसका मरना' में,
गिरिराज किशोर की 'रिश्ता' और 'चूहे' में, रवीन्द्र कालिया की 'बड़े शहर का
आदमी' और 'नौ वर्ष छोटी पत्नी' में, ज्ञानरंजन की 'पिता', 'शेष होते हुए' तथा
'सम्बन्ध' में, भीमसेन त्यागी की 'एक और विदाई' में तथा दूधनाथ सिंह की
'रक्तपात' और 'आइसबर्ग' में स्पष्टतः दिखायी दे जायगी ।

इस सन्दर्भ में दूधनाथ सिंह की कहानी 'रीछ' को मैं विशेष रूप से डिस्कस करना
चाहूँगा । दूधनाथ को, और फिर उनकी कहानी 'रीछ' को, इसलिए कि मेरे
खयाल में सातवें दशक के कथाकारों में दूधनाथ पुरानों के अधिकांश गुण अपनी
रचनाओं में समो देते हैं । 'रीछ' को इसलिए कि पुरानी होते हुए भी यह नयी
है । 'रीछ' की भाषा बड़ी परिष्कृत है । एक-एक शब्द और एक-एक वाक्य
पर लगता है कि श्रम किया गया है । कहानी पेचीदा भी है और गहरी भी।
उसमें स्तर-दर-स्तर परतें और गहराइयाँ हैं । फिर प्रतीक भी पुरानों की ही
तरह कहानी में बिना गया है और पच्चीकारी और बिनावट का ढङ्ग ऐसा है जिसे
क्लासिक कहा जा सके । तब कोई पूछ सकता है कि ऐसा लेखक पुरानों से भिन्न
कहाँ है ? मेरा निवेदन है कि 'दृष्टि' में—सत्य के प्रति इसी निर्मम आग्रह में ।
'रीछ' इस दृष्टि से ज्ञानरंजन के 'सम्बन्ध' की तरह इस दशक की महत्वपूर्ण
(सिगनीफिकेंट) रचना है ।

मुझे इस कहानी को पढ़ते हुए इसकी पच्चीकारी के कारण राजेन्द्र यादव की
'प्रतीक्षा' का ध्यान आया । 'प्रतीक्षा' भी बड़ी चतुराई और चाबुकदस्ती से
बुनी हुई कहानी है । लेकिन दुर्भाग्य से वह बनी हुई होने के कारण कहीं भी

। को नहीं छुती। कहूँ कि हाड-माँस की नहीं लगती। उसके तमाम समलैंगिक
नाचार के बावजूद उसे दोबारा पढ़ने की कभी इच्छा नहीं हुई। उसे पढ़कर
ा कि लेखक ने इसे लिखकर समकालीनों को बताना चाहा है—'मैं भी ऐसी
हानी लिख सकता हूँ।' जब कि दूधनाथ सिंह की कहानी, यह लेख लिखते
मय, जब मैंने दोबारा पढ़ी तो मुझे पहले से अच्छी लगी। एक पति अपने पहले
ार का किस्सा अपनी पत्नी को बताकर अपनी पुरानी स्मृतियों से मुक्त हो
र्मित हो जाना चाहता है। लेकिन पत्नी ऐसा नहीं होने देती है। और
रानी स्मृति की यन्त्रणा, जिसे दूधनाथ ने 'रीछ' के प्रतीक से उजागर किया है,
ाखिरकार उसे स्वयं रीछ (पशु) बना देती है—थीम तो इस कहानी की इतनी
। है और इसमें कोई नयापन नहीं। और जैसा कि मैंने कहा, नयापन इसकी
ापा या पच्चीकारी या बिनावट में भी नहीं, नयापन और कहूँ कि स्पष्ट विभाजन-
ला पति-पत्नी के सम्बन्धों के सत्य की भयावहता को एकदम नंगा करके रख देने
' है। यह विचार कि विवाह के कुछ अर्से बाद हर पति पशु हो जाता है, सत्य
ते हुए भी कँपा देता है। मेरे सामने 'नयी कहानियाँ' का मई, १९६६ का
ङ्क है और उसमें कई हिस्से हैं जो उस सम्बन्ध के भयानक सत्य को अत्यन्त
र्ममता से स्पष्ट कर देते हैं :

तब वह चिड़चिड़ाकर उठता और जल्दी खत्म कर देता। खत्म होने के बाद
ुसे ही लगता कि वह एक मरी हुई चीज के पास लेटा है।' (पृष्ठ ६)

कि 'उसे' (रीछ को) इस तरह बार-बार लौटा लाने में उसी का (पत्नी) का
हाथ है। कि वह असल में क्या कर रही है? कि वह किस तरह स्वयं ही अपने
हाथों से उसे खो रही है? दूसरी शक्ल में गढ़ रही है। कि वह स्वयं ही उसे
उठा कर दूर फेंक रही है।' (पृष्ठ १२)

और कैसी कूड़िटी (फूहड़ता) से ऐसा करती है इसका अत्यन्त कलापूर्ण, लेकिन
भयानक चित्रण, दूधनाथ सिंह ने किया है। पैरा लम्बा है, लेकिन चूँकि यही
पैरा है जो इसे तमाम पुरानी कहानियों से भिन्न कर देता है इसलिये मैं इसमें से
कुछ पंक्तियाँ उद्धृत कर रहा हूँ :

'वह उसे तरह-तरह से छेड़ती, टीज करती और खोद-खोदकर, प्राचीनतम टूटी-
फूटी धड़वाली, बदरूप मूर्तियाँ और छिपे शिला-लेख बाहर निकालना चाहती।
कुछ न मिलता तो वह मिट्टी ही उठा लेती या टूटी ईंट या कोई घिना हुआ
पत्थर…और उसी को पढ़ने का प्रयास करती। या अपने ढंग से उसकी
व्याख्या करती और कहानियाँ गढ़ती या अपने निर्णयों से उसे लगातार टुकड़े-टुकड़े
करके चलती…'अगर मैंने जान लिया [illegible] था

तो मैं तुम्हें दिखा दूँगी। तुम कल्पना भी नहीं कर सकते।···हाँ ! कि मैं क्या कर सकती हूँ। मैं एक क्षण में तुम्हारी यह पवित्रता-अपवित्रता की रट तोड़ दूँगी। मैं किसी फूहड़, नाकारा आदमी के साथ···तुम जलकर राख हो जाओगे। मैं तुम्हारी मूर्ति—वह अन्दर की मूर्ति—उठाकर चूर-चूर कर दूँगी··· कुछ नहीं, मैं समझ गयी, तुम्हें क्या पसन्द है···भारी-भारी नितम्ब···कितने गन्दे होते हो तुम लोग···हमेशा पीछे ही से पसन्द करते हो। 'हाँ, चेहरा तो ठीक-ठाक है, पर पीछे से बेकार है।' क्या पीछे से खाओगे ? हाँ, तुम लोग खाते ही हो। तो क्यों नहीं ढूँढ़ ली कोई विकट-नितम्बा···'

'वह उसे चूमने का प्रयास करता। उसके बाद उसके बोलने का लहजा बदल जाता।—'क्या कभी तुम्हें इतना सुख मिला है ? क्या तुम इस तरह किसी के साथ···ठीक इसी तरह···? छिः···हाँ, हाँ, मेरे तो छोटे-छोटे हैं···उसके कितने बड़े थे ? बीच में जगह थी या दोनों मिल गये थे ? इसीलिए तुम यहाँ नहीं चूमते···'

'थोड़ी देर बाद वह 'शुरू' कर देता। वह इस तरह मान जाती जैसे कुछ भी न हुआ हो। लेकिन वह हर क्षण दहशत से भरा रहता। न जाने कब···अगले किसी क्षण टोक दे···उसकी उँगलियाँ काँपने लगतीं। वह सम्वादों की कल्पना करने लगता···जैसे वह अभी पूछेगी, उसकी जाँघें कैसी थीं ? एकदम चिकनी। तभी तो···वह अपनी थरथराती हुई उँगलियाँ रोक लेता। लगता, उसकी जाँघों में हजारों सुनहरे तीर अँखुआ रहे हैं···'

लेकिन यह कहानी का एक पक्ष है। इसका दूसरा और भी भयानक पक्ष वह है जब नायक अपनी उस दूसरी प्रेमिका के साथ किये जानेवाले सहवास की याद करता है। उसे याद आते हैं प्रेमिका के ये शब्द···

'जानते हो, उनके साथ कैसा लगता है ? जैसे कोई रीछ मेरे ऊपर झूम रहा हो···'साँस बदबू करती है।' ना, पायरिया नहीं। पहले गोमती में दिन-दिन भर तैरा करते थे। हर वक्त जुकाम बना रहता था। पीला-पीला कफ निकलता है···हजरतगंज में कोई औरत देखी, पीछे-पीछे घूमते हुए दो-चार चक्कर लगाये। लौटकर दो-चार कपड़े लिये और स्टेशन भागे ···ग्यारह बजे उतरे और आते ही नोचना शुरू···'

और कहानी का नायक जब स्वयं अपने-आपको अपनी प्रेयसी के पति की तरह रीछ बनते देखता है—रीछ—पशु (जो कि अधिकांश पति शादी के कुछ वर्ष बाद बन जाते हैं) तो कहानी का भयावह सत्य पाठक को (यदि वह कहानी समझ पाता है तो) बेतरह झकझोर देता है।

:ष्टि की यह टिल्टिंग चौथी विभाजन-रेखा है जो सातवें दशक के लेखकों को पुरानों से भिन्न करती है।

९ छ ये कहानियाँ

सातवें दशक के लिए समर्पित 'अणिमा' के इस विशेषांक के लिए आयी हुई चौबीस कहानियों की फाइल मेरे सामने है। मैं सब कहानियाँ देख भी गया हूँ। कुछ को मैंने यह लेख लिखते समय दोबारा पढ़ा है और कुछ, बावजूद कोशिश के, मैं पढ़ नहीं पाया। इन कहानियों को देखकर मेरे मन में वही खयाल आता है जो 'धर्मयुग' के 'कथा-दशक' के अन्तर्गत छपी कहानियों को पढ़कर आया था—यही कि ऐसे आयोजन कुछ कथाकारों की कब्रें साबित होते हैं। 'धर्मयुग' के उस आयोजन के साथ ही कई बीच के कथाकार खत्म हो गये। यहाँ भी अधिकांश कथाकारों ने अपनी बेहतरीन रचनाएँ नहीं भेजीं। इसमें न उनका दोष है, न 'सम्पादक-अणिमा' का। कथाकार के नाते अपनी गत चालीस वर्ष की जिन्दगी में मुझे याद नहीं आता कि दो-तीन बार को छोड़कर मैंने किसी विशेषांक के लिए कोई कहानी भेजी हो। होता यह है कि जब कोई बहुत अच्छी कहानी लिखी जाती है तो कोई विशेषांक नहीं निकल रहा होता, और जब कोई विशेषांक निकल रहा होता है तो अच्छी कहानी पास में नहीं होती। इसी कारण व्यक्तिगत रूप से मैं विशेषांकों के लिए लिखने का कायल नहीं। विशेषांकों के लिए तभी लिखना चाहिए जब मन में किसी कहानी का खयाल पूरी तरह पका हो और कहानी जल्दी में लिखी जा सके। खयाल पका न हो तो केवल विशेषांक में छपने की उत्कण्ठा से, मन पर जोर देकर, कभी कहानी न लिखनी चाहिए।

लेकिन नये लेखकों के लिए विशेषांक में छपना महत्व भी रखता है और विशेषांक में छपने का मोह सम्वरण करना उनके लिए कठिन भी होता है। इस स्थिति में उन्हें चाहिए कि जब कोई अच्छी कहानी लिखी जाय तो उसे तत्काल छपने न भेजें। सहेजकर रख लें, और दो-चार महीने बाद जब कोई विशेषांक छपे तो एक बार उसे फिर देखकर, उसकी त्रुटियाँ दूर करके (जो कहानी लिखते समय तत्काल दिखाई नहीं देतीं) उसमें उसे भेज दें। कहानी जम जायगी और लेखक को लाभ होगा। विशेषांक ही में क्यों न हो, बे-मन की लिखी कहानी लेखक को कोई लाभ नहीं पहुँचाती, बल्कि उसकी अक्षमता का भाण्डा ऐन चौराहे में फोड़ती है।···अपने में विश्वास रखनेवाला लेखक इस बात की कभी परवा नहीं करता कि उसकी कहानी किसी विशेषांक में छपती है या नहीं।

६२ की 'कहानी' (इलाहाबाद) में उनकी दो कहानियाँ 'घोड़ा' और 'माँ' छपी थी। इनमें 'घोड़ा' बहुत-अच्छी कहानी थी और उसमें विजय ने एक निहायत नाजुक थीम को उतनी ही नजाकत से प्रस्तुत किया था। पहले उनकी कहानियों के पात्र और वातावरण भारतीय होते थे, पर जब से वे विलायत हो आये है, प्रायः उनकी कहानियाँ पश्चिमी वातावरण और वहीं की थीम्ज को लेकर लिखी जा रही है। 'अणिमा' के किसी पिछले अङ्क में छपी 'गवाह' और इस अङ्क की 'रिहाई' मेरी *बात का प्रमाण हैं, हालाँकि दोनों कहानियाँ उच्च कोटि की है।* 'रिहाई' में उन्होंने बताना चाहा है कि एक कातिल की भी प्राइवेसी होती है। और कई बार भीड़ में—ऐसे लोगों में जो नितान्त सामान्य है, या जो कुछ भी नही हैं—घिर जाने से उसके लिए जेल जाना मुक्ति के बराबर हो जाता है। बात हमेशा चौहान संकेत में कहते है और अब भी उन्होंने ऐसा ही किया है। विजय चौहान भोगी या झेली हुई मिलावटहीन बात नही कहते, 'सोची हुई' बात निर्भीक रूप से रखते है।

प्रबोधकुमार भी उनके साथ ही लिखनेवालों में हैं। मैंने उनकी ज्यादा कहानियाँ नहीं पढ़ी, यद्यपि जो पढी हैं उनमें से 'आखेट' उनकी कला का प्रतिनिधित्व करती है। उनके साथ लिखनेवाले सुरेन्द्र कम्पानी (जिनकी कहानी 'छाया') और अद्योमेश्वरी प्रताप (जिनकी कहानी 'सीलन' मुझे अच्छी लगी थी) न जाने कहाँ खो गये, क्योंकि इधर बहुत दिनों से उनकी कोई कहानी पढने को नहीं मिली।

प्रयाग शुक्ल ने जिन्दगी के रोजमर्रा की छोटी-छोटी घटनाओं पर बहुत-सी कहानियाँ लिखी हैं। प्रस्तुत विशेषांक में संकलित 'पड़ाव' एक अच्छी स्टडी है, लेकिन मैंने महसूस किया है कि इधर उनकी कहानियाँ काफी एकरस होती जा रही हैं···उन्हें अपनी शैली को बदलना चाहिए।

महेन्द्र भल्ला मुझे बहुत ही टिक्ल करनेवाले (गुदगुदानेवाले) लेखक लगते हैं। उनकी कहानी पढ़ जाओ, अच्छी लगती है, फिर भूल जाती है, फिर पढो, फिर अच्छी लगती है, लेकिन फिर भूल जाती है। तो भी उनकी कहानी 'कुत्तेगीरी' की मुझे आज भी याद है, जो शायद 'नयी कहानियाँ' के फरवरी-मार्च अंक में छपी थी।···महेन्द्र भल्ला माइल्ड फ्लर्टेशन के कथाकार हैं, और उनकी कहानियों में कुछ अजीब-सी लोलुपता है, इतना [illegible]

जाता है। इस सिलसिले में 'कहानी' (इलाहाबाद) के अगस्त ६२ के अंक में छपी उनकी कहानी 'डुबकी' का मैं खास तौर से उल्लेख करूँगा। हो सकता है कि जैसा वे भोग रहे हों, वैसा ही वे लिख रहे हों, लेकिन अपने भोगे हुए को यथावत् लिख देना किसी अच्छे कलाकार के लिए कोई बहुत अच्छी बात नहीं। कैसा कलाकार अपने भोगे हुए को जिस दृष्टि से अभिव्यक्त करता है, और उस अभिव्यक्ति के माध्यम से वह जो कहना चाहता है, यदि वह महत्व का नहीं होता तो कहानी याद नहीं रहती। इधर 'नयी कहानियाँ' के नवम्बर अंक में उनकी जो कहानी 'थानु' छपी है वह उस माइल्ड फ्लर्टेशन और लोलुपता के बावजूद किंचित् गहरी बात कहती है। इस पर भी मुझे यह कहने में संकोच नहीं कि महेन्द्र भल्ला सशक्त कलाकार हैं, उन्हें अपनी भाषा और अभिव्यक्ति पर अधिकार है। उनके यहाँ गहराई की किंचित् कमी है, लेकिन आशा है कि वह भी उनके यहाँ आ जायगी। 'सही बटा' में उनकी कला के सारे गुण मौजूद हैं, और दोष भी। इतनी-सी बात मुझे गलत लगती है कि एक ब्लैकमारकेटियर की पढ़ी-लिखी बीवी, एक बच्ची की माँ बन जाने के बावजूद, इतनी भोली है कि 'काले पैसे' का मतलब नहीं समझती और भरी पार्टी में (अपने पति के खिलाफ उसके क्रोध का कारण कुछ भी क्यों न हो) यह प्रश्न पूछती है कि काला पैसा क्या बला है···केवल कॉलेज में उसका 'निक-नेम' आदर्शवती था, इस सूचना से यह प्रश्न सम्भाव्य (प्रोबेबुल) नहीं बन जाता। इस एक बात के अलावा शेष सारी कहानी मुझे अच्छी लगी—जितनी कि महेन्द्र भल्ला की कहानियाँ मुझे अच्छी लगी हैं।

काशीनाथ सिंह की बहुत कहानियाँ मैंने नहीं पढ़ीं। 'अपने लोग' मुझे काफी अच्छी लगी। यदि इसमें एक दोष न होता तो मैं निःसंकोच कहता कि कहानी उच्चकोटि की है। चपरासी भाषा तो अपनी बोलता है, लेकिन बात अपनी नहीं कहता, लेखक की कहता है। याने एन्टेलेक्चुअल! और इतनी-सी बात उसके चरित्र को किंचित् असंभाव्य बना देती है। लेकिन यह कुछ वैसा ही दोष है जैसा मंटो की प्रसिद्ध कहानी 'खुशिया' में। तो भी बात कहने का ढङ्ग काशीनाथ का अपना है और उन्होंने बारीक बात कही है और जोरदार ढंग से कही है। इस विशेषांक की कहानियों में 'अपने लोग' महत्वपूर्ण रचना है। भाषा के कुछ अनगढ़ प्रयोग उनके यहाँ हैं—कुछ ऐसे देहाती शब्द जिनका अर्थ मेरे ख्याल में फुटनोट में होना चाहिए था। काशीनाथ यदि हिन्दी-कथा-साहित्य पर अपना कुछ प्रभाव छोड़ना चाहते हैं तो उन्हें अपनी भाषा को माँझना होगा। रूखड़ वे

उसे शौक से बनायें, तो भी उसे माँजें और सँवारें और इस बात का खयाल रखें कि हिन्दी उत्तर प्रदेश ही में नहीं, आँध्र, केरल, बंगाल, तमिलनाड और महाराष्ट्र-गुजरात में भी पढ़ी जाती है।

गिरिराज किशोर को मैं सातवें दशक के कथाकारों में महत्वपूर्ण मानता हूँ। वे नये कितने हैं और पुराने कितने ? इस बहस में नहीं पड़ूँगा। उन्होंने कुछ बहुत अच्छी कहानियाँ लिखी है,' जिनमें 'पेपर वेट', 'नया चश्मा', 'निमन्त्रण', 'चूहे', 'गाउन' (जो इसी महीने की 'नयी कहानियाँ' में छपी है।) मुझे बहुत अच्छी लगी हैं। इन पाँचों में भी पहली तीन मुझे इसलिए बेहतर लगती हैं कि उस क्षेत्र की यथार्थता को पकड़ने और उसका उद्घाटन करनेवाले सातवें दशक के कथाकारों में गिरिराज अकेले हैं। इन कहानियों के मुकाबिले में 'रिश्ता' मुझे किंचित् कमजोर दिखायी देती है। मेरे खयाल में सेक्स गिरिराज का क्षेत्र नहीं, उनका क्षेत्र राजनीति है। राजनीति से मेरा यह मतलब नहीं कि वे स्वयं राजनीति में भाग लेते हैं, बल्कि यह कि उनका बचपन और उनकी किशोरावस्था राजनीतिज्ञों में गुजरी है और उस जिन्दगी को वे पूरी सफलता से अपनी रचनाओं में चित्रित कर सकते हैं—इस तरह कि उनका कोई समकालीन नहीं कर सकता। 'पेपर वेट' और 'नया चश्मा' मेरी बात का प्रमाण हैं। इसी दृष्टि से उनका पहला उपन्यास 'लोग' अपनी चन्द-एक खामियों के बावजूद, एक अत्यन्त महत्वपूर्ण रचना है।

भीमसेन त्यागी सातवें दशक के ऐसे कथाकार हैं जो नयी सम्वेदना और दृष्टिकोण के बावजूद पुरानों के निकट हैं। इधर मैंने उनकी कई कहानियाँ पढ़ी हैं, जो मुझे बहुत अच्छी लगी हैं। 'एक और विदाई' (यदि मैं नाम नहीं भूल रहा), 'समशेर' और 'शहर में एक और शहर' उनमें उल्लेखनीय हैं। यथार्थ पर भीमसेन की जबरदस्त पकड़ है। फिर, जैसे रेणु आंचलिक भाषा का प्रयोग लाजवाब ढंग से करते हैं, इसी तरह त्यागी मेरठ, मुजफ्फरनगर के आस-पास की बोल-चाल की भाषा का प्रयोग बड़ी सफलता से करते हैं। 'एक और विदाई' मुझे केवल [illegible] की भाषा और गालियों के कारण याद रह गयी। 'कलन्दर' में ऐसे व्यक्ति का अत्यन्त सुन्दर चित्रण है जो हर काम करते हुए अपने मित्र के बारे सोचता रहता है कि वह इसे कैसे करता।—दूसरे शब्दों में, जिसे मित्र की हर बात से ईर्ष्या है। 'शहर में एक और शहर' में निम्न-मध्यवर्ग के एक दुकानदार और उसकी पत्नी के मनोविज्ञान का बहुत ही सुन्दर चित्र है जो निरन्तर संघर्ष

और गंदी जगह रहने के बाद जब नयी कॉलोनी में बँगला लेते हैं तो वहाँ अपने को फिट नहीं कर पाते और वापस उसी गंदी जगह जाने के लिए छटपटाते हैं। ऐसी थीम पर वेदी ने तीन वर्ष पहले 'लारवे' लिखी थी। 'लारवे' बिम्ब-प्रधान होने से जल्दी समझ में नहीं आती, जब कि त्यागी की कहानी सहज, बोधगम्य और मन पर प्रभाव छोड़नेवाली है।
'पेंशनर', मुझे अफसोस है, उतनी अच्छी कहानी नहीं है। तो भी त्यागी का व्यंग्य अपनी जगह मौजूद है और दो हजार की पेंशन पानेवाले पिता के जरा-से जुकाम के लिए उसके असफल और अयोग्य बेटे कैसे चिन्तित हैं, उन पर बड़े सूक्ष्म ढंग से त्यागी ने व्यंग्य किया है। हालाँकि किस नौकरी में 'दो हजार' पेंशन मिलती है, यह मैं नहीं जानता।

अनीता औलक ने बहुत नहीं लिखा। मेरी नजर से उनकी केवल चार-पाँच कहानियाँ ही गुजरी हैं, जिनमें तीन—'चरागाहों के बाद', (धर्मयुग) 'लाल पराँदा', (नयी कहानियाँ) 'बेगजल' (कल्पना)—मुझे बहुत अच्छी लगी हैं। 'चरागाहों के बाद' में यद्यपि वस्तु बहुत अच्छी है, लेकिन अभिव्यक्ति में भावुकता के अतिरेक ने प्रभाव को कम कर दिया है। उसके मुकाबले में 'बेगजल' और 'लाल पराँदा' कहीं अधिक सफल रचनाएँ हैं। 'बेगजल' में एक बड़ी दुकान पर काम करनेवाले एक दुबले-पतले, बदसूरत, फुलहरी मारे, कुरूप, सादालोह, सच्चे और ईमानदार, लेकिन असफल शायर (खुशीराम) का चरित्र-चित्रण अनीता ने इतना अच्छा किया है कि अनायास दाद देने को जी चाहता है। उसमें कहीं कोई दोष अपनी छिद्रान्वेषी आँख के बावजूद भी मुझे दिखायी नहीं दिया। लेकिन जो कहानी अनीता को सातवें दशक के कथाकारों में महत्वपूर्ण स्थान देती है, वह 'लाल पराँदा' है। ये पंक्तियाँ लिखते समय मैंने उसे फिर से पढ़ा है और मुझे दोबारा पढ़ने पर भी उतनी ही अच्छी लगी है। अपने ऊपर निर्भर रहने को विवश दो जवान कुँवारी बहनों—करतारो और सूरजो—की यह कहानी अनीता ने नयी सम्वेदना और नयी दृष्टि से लिखी है। कोई पुराना कथाकार इसे लिखता तो इसका अन्त यों न करता जैसे अनीता ने किया है। इस बात का पता चलने पर कि सूरजो बुलाकी से विवाह करना चाहती है, बड़ी बहन अपनी कुण्ठाओं और स्वार्थ को भूलकर उसे बुलाकी को सौंप देती और अकेली रह जाती पर कहानी का अन्त वैसे नहीं हुआ और अंतिम पैरे में करतारो का यह कहना 'मैं वह तेरे लिए ले आयी थी···तेरे लिए से मतलब दोनों के लिए ही है···वह जो तुमने कहा था···तीन लच्छी का !' कहानी को एक नये धरातल पर नये यथा

और नयी सम्वेदना का वाहक बना देता है। यह अन्त किसी भावुक पाठक को कितना भी बुरा क्यों न लगे, सच भी है और करुण भी।''' प्रस्तुत विशेषांक में अनीता की कहानी 'उसका अपना आप', 'बेगजल' और 'लाल परांदा' जैसी ऊँची रचना तो नहीं है, लेकिन यह इस विशेषांक की चन्द सफल और सच्ची रचनाओं में से एक है।

इसराइल की एक कहानी मैंने ६२ की 'कहानी' (इलाहाबाद) में पढ़ी थी। यद्यपि उसका नाम याद नहीं, एक हल्का-सा इम्प्रेशन ही मेरे दिमाग पर है। सराइल प्रगतिशील लेखक है और उनकी कहानियों में सातवें दशक के सभी गुणों के साथ-साथ प्रगतिशीलता का भी गुण है। कारखानों में काम करनेवाले मजदूरों की मानसिक उलझनों का बहुत अच्छा चित्रण इसराइल करते हैं और उनकी कहानियों का यह गुण 'टूटा हुआ' में भी है। इस कहानी की चार पंक्तियाँ देखिए :

'क्योंकि जिन्होंने उसे मरवाया है, वे बहुत बड़े लोग है और वही चाहते हैं कि किसी एक की फाँसी होनी है तो मेरी ही हो जाय।'

और फिर :

'इन्साफ है और वह यह है कि अब मेरी भी जरूरत उन्हें नहीं है। मुझसे भी बड़े उस्ताद उनको मिल गये हैं।'

और ऐसी बहुत-सी बातें इसराइल ने इस कहानी के माध्यम से कह दी है।

दूधनाथ सिंह की 'स्वर्गवासी' मुझे इस अंक की कहानियों में सर्वाधिक पसन्द आयी। निहायत जमकर लिखी हुई और गहरी। यद्यपि वह नयी है, यह कहने में मुझे संकोच होता है। वह उतनी ही पुरानी है, जितनी संस्मरण-शैली में लिखी प्रसिद्ध चरित्र-प्रधान कहानियाँ। मैं नहीं जानता कि मेरी बात से कोई सहमत है या नहीं, पर दूधनाथ नये हों या न हों, बहुत अच्छे कथाकार है। और मुझे हैरत नहीं होगी यदि दुनिया-जहान की नारेबाजी और फैशनपरस्ती के बावजूद, वे बहुत अच्छी और गहरी कहानियाँ लिखते चले जायें और एक दिन घोषणा कर दें कि कहानी में नया-पुराना कुछ नहीं होता। 'स्वर्गवासी' में अपने बहनोई के घर आकर डट जानेवाले और हजारों अपमानों को सहकर खाने-पीने में जुटे रहनेवाले एक ऐसे आदमी का अत्यन्त सफल चित्रण उन्होंने किया है, जो अन्दर से कब का मर चुका है और केवल अपनी लाश ढो रहा है। कहानी का ट्रीटमेंट

दूधनाथ की नयी दौर का द्योतक है, और कभी पुराने और नये चरित्र-चित्र
विभाजन-रेखा खींचता है।

आलोक शर्मा ने कुछ शक्ल-अशक्ल अफसाने लिखी हैं। उनकी यह पहली
'अण्डरस्टैंडिंग का एक क्षण' मुझे उनमें बेहतर लगी। इसमें वैवाहिक सम्ब
के उसी सत्य का चित्रण करने का प्रयास आलोक ने किया है जिसकी झलक दू
नाथ की 'रीछ' में भी मिलती है, जब पत्नी पति के शोषों पर उसे डाँटने के बा
खुद शारीरिक तौर पर उसे अण्डरस्टैंड करती है।

से०रा० यात्री की 'ज़ात' उनकी कहानियों में काफी अच्छी है। बड़े भाई
'बरसी' पर एक ऐसे छोटे भाई के मनोभावों का चित्रण इसमें है, जिसे वह
ढोंग लगता है और जो समय पर वहाँ पहुँचने के बदले अपने साढू के साथ
पीने लगता है, और जब वहाँ पहुँचता है तो खाना नहीं, शाम ही को वापस
पड़ता है। कहानी की सम्वेदना सातवें दशक की है। भाषा भी यात्री
इस कहानी की सरल और बोल-चाल की भाषा के करीब रखी है, पर वे अध्
पक और आलोचक हैं, इसलिए एक-दो जगह भाषा काफी क्लिष्ट संस्कृत-निष्ठ
गयी है और एक-आध जगह सख्त उर्दू-ज़दा, और दोनों जगहों पर वह खट
है। मुज़फ्फरनगर में सरोज कहानी के नायक की भाभी की छोटी बहन
फिर आगे मालूम होता है कि वह उसकी साली भी है···यह रिश्ता कुछ स
नहीं आता। इस रिश्ते को कुछ और साफ करना ज़रूरी था। बंसल का च
कहानी में खूब उभरा है।

अतुल भारद्वाज की कहानी अच्छी है, लेकिन लगता नहीं कि किसी भार
अनुभूति पर लिखी हुई है। मैंने उसे दो बार पढ़ा है···और दोनों बार
यह बात खटकी है। इसका हॉरर यहाँ का हॉरर अभी नहीं है। दूसरे महा
में किसी कस्बे के किसी भयभीत व्यक्ति का हॉरर है, जो ब्लैकआउट-ज़दा
के बाहर, सड़क के किनारे छिपा, शत्रु-सेना को आते देखता है। थकी-हा
नाक की सीध में चलती सेना जब गुज़र जाती है, तो वह पाता है कि
सैनिक मरा हुआ सड़क पर पड़ा है। इस डर से कि वे उसे लेने ही वापस न
जायँ और कस्बे को तहस-नहस न कर दें, वह उस शव को कन्धों पर उठा
शार्ट-कट से फिर आगे सड़क पर रख देता है और पेड़ के नीचे छिप जाता
सेना आती है, वह उसे देखने के लिए आँख भी नहीं झुकाती और उसे कुच

हुए गुजर जाती है। अनुभूति भयानक है, लेकिन यहाँ भी नहीं। फिर कहानी का बाइसवाँ पैरा यूँ शुरू होता है :
'उस रात वह छत पर अकेला बैठा रात को बीतते हुए देखता रहा।'···लेकिन दो बार पढ़ने पर भी मेरी समझ में नही आया कि यह किस रात का जिक्र है। सड़क के किनारे आकर छिपने से पहले छत पर तो शाम थी। रात तो उसे (यदि हुई, तो) सड़क के किनारे आकर हुई। फिर यह समझ में नही आता कि यदि रात हो गयी थी तो उसे सड़क पर मुर्दा कैसे नजर आ गया ? क्योंकि ब्लैक-आउट था।···

ज्ञानरंजन के 'हास्यरस' में उनकी शैली के सभी गुण हैं, लेकिन जिस पाठक ने उनकी कहानियाँ 'पिता', 'शेष होते हुए', 'फेंस के इधर और उधर', 'सम्बन्ध' पढ़ रखी हैं, उन्हें यह कहानी काफी कमजोर दिखायी देगी। ज्ञान इस पीढ़ी के अत्यन्त सशक्त कथाकार हैं, जिन्होंने इस दशक की सम्वेदनाओ और दृष्टिकोणो को बड़ी ही सफाई से आत्मसात कर अपनी कहानियो के माध्यम से व्यक्त किया है। अच्छा होता यदि कोई उत्कृष्ट रचना वे 'अणिमा' के इस विशेषांक में देते।

रवीन्द्र कालिया व्यंग्य का उपयोग दोधारी तलवार की तरह करते हैं—जिन्दगी की एब्सर्डिटी को दिखाते और उसमें जीने के सूत्र खोजते हुए। मेरे खयाल में इस युग का कथाकार ठीक ही यह सोचता है कि समाज की जैसी भी वाहियात व्यवस्था है और जिन्दगी जैसी भी भ्रष्ट और एब्सर्ड है, उस पर केवल व्यंग्य से हँसा ही जा सकता है। और अपने समकालीनो मे महेन्द्र भल्ला और ज्ञानरंजन के साथ-साथ कालिया बड़ी सफलता से ऐसा करते हैं। इधर कालिया ने अपनी कहानियों की शैली किंचित् बदल दी है। जिन लोगो ने उनकी कहानी 'बड़े शहर का आदमी', 'नौ साल छोटी पत्नी', 'कोजी कार्नर', पढ़ी है, उन्हें 'धक्का' थोड़ा निराश ही करेगी।
कालिया शायद इसमें कुछ गहरी बात कहना चाहते हैं। शायद कहना चाहते हैं कि आदमी मशीनो को बनाकर भी उनके प्रति अनभिज्ञ है अथवा उन पर अधिकार खो बैठा है—'दरअसल इस घर का हमें बहुत कम ज्ञान है।' यदि इस वाक्य का यह मतलब नहीं और यह किसी दोस्त ही का घर है, जिसमें पति-पत्नी सोते हैं और बिजली के खराब हो जाने से पति धक्का खा जाता है और डर जाता है और मेन स्विच नहीं खोज पाता और पत्नी उठती नहीं अथवा जान-बूझकर

नखरे करती है और कहानी सिर्फ इतना ही बताने को लिखी गई है तो [illegible]
बहुत हल्की है। कालिया मेरी बात मानेंगे नहीं, लेकिन अच्छा होता कि
वैसी ही कुछ और कहानियाँ लिखते, जैसी कि लिखते गये हैं।

गंगाप्रसाद विमल की 'अपना मरना' बड़ी विलक्षण कहानी है। जैसे कां
यादव कभी-कभी अपने दोस्तों का चैलेंज स्वीकार कर उनसे एक कदम आगे
कहानियाँ लिखने का प्रयास करते हैं, वैसे ही डॉ० गंगाप्रसाद विमल ने दूध
सिंह की कहानी 'रीछ' को मात देने के लिए उनसे एक कदम आगे जाकर यह
लिखी है। दूधनाथ सिंह ने 'रीछ' का सिम्बल लिया है तो विमल ने 'ब
का। मेरा सिर्फ यह कहना है कि विमल को जितनी मेहनत ऐसी कठिन थीम
उतने मुश्किल सिम्बल पर करनी चाहिए थी उतनी उन्होंने नहीं की। दूधना
'रीछ' कई महीनों में लिखी। इस बीच न जाने कितने वर्शन उन्होंने उसके तै
किये। मुझे नहीं लगता कि विमल ने यह कहानी दोबारा पढ़ी भी है, क्यों
इसमें शिल्पगत त्रुटियाँ हैं। मेरी समझ में यह बात नहीं आयी कि पति यदि
के साथ आता है तो उस वक्त, जब घर में दूसरा कमरा है और वह वहीं सोने
बात भी करता है, वह अपनी पत्नी के कमरे में क्यों सो जाता है ? सोता है
जमीन पर क्यों सोता है, और पत्नी जो प्रकट ही पतिव्रता है, उसे जमीन
कैसे सोने देती है और खुद पलँग पर कैसे सो जाती है ? और यदि वह मॉडर्न है
इस सबके बाद उसके घर में रह कैसे सकती है ? मुझे न कहानी की थीम
शिकायत है, न सिम्बल से। इसी थीम पर पच्चीस-तीस वर्ष पहले मुह
हसन अस्करी ने 'फिसलन' और इस्मत चुगताई ने 'लिहाफ' जैसी बहुत अ
कहानियाँ लिखी हैं। मुझे शिकायत केवल यह है कि कहानी पर मेहनत
की गयी। न बाग का सिम्बल जम पाया है, न बकरी का। न पत्नी विश्वस
लगती है, न पति। मुझे विमल की कुछ कहानियाँ अच्छी भी लगी
'प्रश्नचिन्ह' की याद मुझे अब भी है। लेकिन उनकी इस कहानी को पढ़कर
भी नहीं लगता कि यह किसी हिन्दुस्तानी की कहानी है। विजय चौहान
तरह वे विलायत हो आये होते तो भी कोई बात नहीं थी। यदि उन्हें अ
लेखक बनना है—प्रतिभा और भाषा उनके पास है—तो उन्हें महज चौंकाने
लिए अथवा मित्रों को मात देने के लिए अथवा फैशन के लिए कहानियाँ लिखने
बजाय अपनी अनुभूतियों को ही कहानियों में रखना होगा।

यहीं मुझे ममता कालिया और सुधा अरोड़ा की कहानियों के सम्बन्ध में दो श

हते हैं। ममता की मैंने कई कहानियाँ पढ़ी है। नाम मैं भूल रहा हूँ। लेकिन दो कहानियो के इम्प्रेशन मेरे दिमाग मे स्पष्ट हैं। एक कहानी में दो आधुनिक अध्यापिकाओं का चित्रण उन्होंने किया है, जिनमें कोई रुकाव-दबाव नहीं और जो इमॅन्सिपेटेड हैं, और दूसरी मे एक लडका (गालिबन शरद) है जो बस में जाता है और जिसके साथ एक वर्स्टी-यर्स्टी लडकी आ बैठती है। (यह शब्द उसी कहानी का है जो मुझे याद रह गया है।) हल्की-फुल्की किंचित् बोल्ड कहानियाँ, चंचल, चपल, बजरी पर सरकते उथले पानी-सी बह जानेवाली शैली—ममता की कहानियों का यही प्रभाव मेरे मन पर है। लेकिन इधर लगता है कि कालिया को देखा-देखी उन्होंने भी अपनी शैली बदल दी है। मैं कालिया से भी सहमत नहीं, और ममता से भी। 'बीतते हुए' जैसी कहानी हर दिन लिखी जा सकती है और पति अपनी पत्नी पर और पत्नी अपने पति पर लगभग ऐसी कहानियाँ हर दिन लिख सकते हैं।

सुधा अरोड़ा की कहानी 'खलनायक' एक थोथे इन्टेलेक्चुअल प्रेम की बचकानी कथा है। इधर रमेश बक्षी का एक कार्ड मुझे मिला है कि वे सुधा अरोडा के नाम से भी कहानियाँ लिखते हैं। यह सत्य है या नही, पर इस कहानी में एक अधपके इन्टेलेक्चुअल प्रेमी का चित्रण है। इसमे एक साथ कृष्ण बलदेव वैद के 'मेरा दुश्मन' और दूधनाथ के 'रीछ' की शैली के अनुकरण में कहानी के नायक के दूसरे रूप (खलनायक) की कल्पना है, जो खासी असफलता से चित्रित की गयी है। साथ ही ज्ञानरंजन के 'सम्बन्ध' में दूसरे की आत्महत्या के बारे में सहज भाव से सोचने का जो उल्लेख है, उसका भी आभास इस कहानी में है। निम्नलिखित पंक्तियाँ इस संदर्भ में उल्लेखनीय हैं :

'कई बार उसकी मन स्थितियाँ, उसकी उदासी, उसकी आत्म-हत्या करने की बातें इतनी बनावटी लगी है कि मैंने चाहा है कि न हो कुछ, वह आत्म-हत्या ही कर ले। उन क्षणो को जी लेने की बात कई बार मन में आयी है, जब वह पूर्णतया नही रहेगी।'

'तो फिर जी कर भी क्या होगा ? कॉलिज नही जाकर और खाना नहीं खाकर और मुझसे नहीं मिलकर तुम अपने माँ और बाप पर एहसान कर रही होगी, पर जीकर किसी पर एहसान नहीं कर रही हो, फिर जीने की भी क्या जरूरत है ? समझीं ?'

ज्ञानरंजन के 'सम्बन्ध' में भयानक होते हुए भी अपने छोटे भाई की आत्म-हत्या के

बारे में सोचना जितना विश्वसनीय लगता है, उतना अपनी प्रेमिका के बारे ...
'खलनायक' के नायक का यह सोचना नहीं। यह फैशन के लिए बौद्धिकता ...
मुखौटा ओढ़कर सोचनेवाले के शब्द तो लगते हैं, किसी की अनुभूति
जनित नहीं।

मनहर चौहान की दस-पन्द्रह कहानियाँ मैंने इधर पढ़ी हैं। उनमें सातवें दश(क) के कथाकार की कोई सम्वेदना और दृष्टि नहीं। मुझे उनकी एक भी कहा(नी) उच्चकोटि की नहीं लगी। न 'बीस-सुबहों के बाद,' न 'विपरीतिकरण,' न 'घर-घुसरा,' न 'सीढ़ियाँ,' न 'हीरो' और न कोई अन्य। 'बीस सुबहों के बाद' ब(नी) हुई कहानी लगती है—ऐसे जैसे किसी जमाने में ओ' हेनरी लिखते थे। 'वि(प)-रीतिकरण' अच्छी हो सकती थी, लेकिन विस्तार में गड़बड़ा गयी। 'घरघुस(रा)' किसी नये लेखक की पहली कहानी के तौर पर पसन्द की जा सकती है, की ... गयी, लेकिन इतने वर्ष बाद भी वह उन्हें पसन्द है तो लगता है कि वे जरा ... तरक्की नहीं कर पाये और वर्तमान विशेषांक की 'उपस्थिति' मेरे इस कथन की साक्षी है। इस कहानी को पढ़कर यदि कोई चन्द्रगुप्त विद्यालंकार के संग्र(ह) 'अमावस' में उनकी कहानी 'कामकाज' का तीसरा खण्ड पढ़े तो यह स्पष्ट लगे(गा) कि आज से तीस वर्ष पूर्व चन्द्रगुप्त ने इसी स्थिति को बेहतर ढंग से लिखा है। मनहर बहुत मेहनती हैं। बाकायदा लिखते हैं। पुराने और बीच के लेखकों से प्रचार के सारे हथकण्डे उन्होंने सीख लिये हैं। एक ही बात उन्होंने नहीं सीखी और वह यह कि अच्छी कहानी कैसे लिखी जाती है और बिना इसके उनका सारा श्रम बेकार जाता दिखायी देता है। यदि 'उपस्थिति' जैसी वे एक हजार कहानियाँ भी लिख लें तो साहित्य के सागर में एक छोटी-सी लहर भी वे नहीं चला पायेंगे—प्रचार के सारे हथकण्डों के बावजूद—ऐसा मेरा निश्चित मत है। अफसोस होता है कि इतना मेहनती आदमी कहीं एकदम गलत हो गया है।

अवध नारायण की कहानी 'अनिश्चय' पढ़कर मुझे दुःख हुआ। मैं अवधनारायण का पुराना प्रशंसक रहा हूँ। उनके पास अपना देने को बहुत-कुछ रहा है, लेकिन लगता है, इधर फैशन के चक्कर में वे भी अपनी डगर छोड़ बैठे हैं। 'अकथा ही नये युग की अभिव्यक्ति करेगी,' ऐसा कोई लेख भी मैंने उनका कहीं पढ़ा है। यों तो इन सभी कथाकारों में भाषा की फूहड़ गलतियाँ हैं और उन्होंने उर्दू शब्दों के काफी गलत प्रयोग किये है, और किसी ने कोशिश नहीं की कि उन शब्दों के प्रयोग से पहले जाँच कर लें। लेकिन अवधनारायण के यहाँ मुझे यह बहुत खला है।

।एक जगह उन्होंने लिखा है—'पटरियों पर चलनेवालों की अदद काफी कम हो चली थी।' ('अदद' पुल्लिंग शब्द है और इसका प्रयोग इस तरह नहीं होता। एक अदद, दो अदद, तीन अदद—ऐसे होता है। कहानी में शब्द तादाद होना चाहिए था।) फिर एक जगह उन्होंने लिखा है, 'लेकिन वह अपनेको जज्ब नहीं कर पाया।' (जबकि शब्द 'जब्त' होना चाहिए।) फिर एक जगह उन्होंने लिखा है, 'बेयरे ने तीन पैग उनके सामने रख दी।' (पैग हमेशा पुल्लिंग होता है। उन्होंने कभी होटल में जाकर पी नहीं। लगता है, यों ही फैशन में यह सब लिख दिया है।) और भी आगे एक जगह लिखा है, 'उन दोनों ने उसकी बात पर कोई खयाल नहीं दिया।' ('पर' की बजाय 'का' होना चाहिए)। फिर दो लाइन बाद वे लिखते , 'तीसरे ने दूसरे से कहा कि तुम बहुत स्वार्थी इन्सान हो।' ('इन्सान' शब्द की इस वाक्य में क्या जरूरत है ?)

भाषा की ऐसी फूहड़ गलतियाँ इस दशक के कहानी-लेखकों में बहुत हैं। लेकिन रामनारायण काफी दिनों से लिख रहे हैं और मैं उन्हें गम्भीर लेखक समझता , इसलिये मुझे काफी दुःख हुआ।

इस संदर्भ में मैं एक बात कहना चाहता हूँ कि अन्ततोगत्वा अच्छी कहानी अच्छी भाषा भी चाहेगी और जो लेखक अपनी भाषा के परिष्कार पर ध्यान नहीं देंगे, हार खायेंगे।

मनमोहन सिंह की कहानी मैंने दो महीने पहले पढ़ी थी, पर अच्छा-बुरा कुछ मुझे याद नहीं रहा।

खोलिया को जब-जब मैंने पढ़ने का प्रयास किया है, एक-आध पृष्ठ से र मैं नहीं पढ़ पाया। पानू खोलिया यदि अपनी रविश नहीं बदलते तो हश्र शैलेश मटियानी से भिन्न होगा, इसकी आशा नहीं। शैलेष में तो प्रतिभा है, यद्यपि वे उसका इस्तेमाल गलत ढंग से करते हैं, पानू खोलिया प्रतिभा भी नहीं दिखायी देती।

चोपड़ा की कहानी 'क्रिब' उनकी इधर की अधिकांश कहानियों की तरह : वास्तव में फैशन के लिए लिखी, कहानी है। अधिकांश कथाकारों की तरह उन्हें भी नहीं । पढ़कर लगता है कि वे बुरी तरह फैशन के ... 'भोगा' या 'झेला' है, उसे वे नहीं लिखते, वरन्

लिखने के लिए 'भोगते' या 'झेलते' हैं। रमेश ने एक बार कहीं लिखा था कि नये लेखक के पास भावों का ऐसा प्राबल्य है कि शब्दों को माँजने-सँवारने का समय उसके पास नहीं। जरूरत पड़ती है तो वह अंग्रेजी का शब्द लिख देता है—इसका प्रभाव सबसे ज्यादा सुदर्शन पर पड़ा। उनकी कहानियों में बेमतलब अंग्रेजी शब्द और वाक्यांश रहते हैं। किसी नये लेखक ने 'नारी' को इतना जीवन्त नहीं उतारा, जितना सुदर्शन चोपड़ा ने—कम-से-कम उनकी कहानियों को पढ़कर यही लगता है। 'गंगा' के अक्तूबर अंक में उनकी कहानी 'हैच' के बारे में यह लिखा गया है कि वह कलकत्ते के वास्तविक यथार्थ की वास्तविक अभिव्यक्ति और उसकी भाषा भद्दी, बनावटी और भ्रष्ट है, उससे मैं पूर्णतः सहमत हूँ। 'कि 'हैच' से बेहतर नहीं। सुदर्शन अच्छी कहानियाँ लिख सकते थे (मैंने उनका पहला कथा-संग्रह पढ़ रखा है) पर वे उन अभागे लेखकों में से हैं, जो जल्दी ही जीनियस बन बैठते हैं और यों प्रगति की सभी सम्भावनाएँ खो बैठते हैं।

☼ चन्द प्रश्न

प्रस्तुत लेख को सुनकर इलाहाबाद के कुछ नये और पुराने मित्रों ने मुझसे चन्द-एक प्रश्न किये। वैसे ही प्रश्न, हो सकता है, 'अणिमा' के पाठकों के मन में भी उठें, मैं यहाँ वे प्रश्न भी देता हूँ, और उनके उत्तर भी।

प्रश्न १—आपने पुराने और सातवें दशक के कथाकारों में जो इतनी विभाजक रेखाएँ खींची हैं, उनको देखते हुए लगता है कि नये लेखक ने परम्परा से कुछ नहीं पाया है ?

उत्तर—जरूर पाया है और उनकी कहनियों में ढूँढने पर ऐसे कई तार भी मिल जायेंगे जो परम्परा से जुड़े हुए हैं। खोज करने पर कई तरह की समानता पुरानों और नयों में मिल जायेंगी—विजय चौहान के यहाँ (किसी सूक्ष्म आइडिया पर कहानी बुनने की पद्धति में), दूधनाथ सिंह के यहाँ (पच्चीकारी, सिम्बलिज्म और भाषा के परिष्कार में), भीमसेन त्यागी और गिरिराज किशोर के यहाँ (कहानी की बिनावट और समाजपरकता में), से० रा० यात्री के यहाँ तो प्रेमचन्द के 'कफन' का एक वाक्य ही वंसल अपनी भाषा में बोल जाता है। और ऐसी दसियों ऐसी बातें गिनायी जा सकती हैं।…लेकिन इसके बावजूद, सातवें दशक के कथाकारों की रचनाओं में कुछ ऐसा आ गया है, जो परम्परा से एकदम कटा हुआ दिखायी देता है।

प्रश्न २—क्या पुराने लेखक के नाते आप इस सारे परिवर्तन से सहमत हैं

उत्तर—शायद नहीं, और शायद हाँ। परम्परा से विद्रोह और अपने समय को चित्रित करना हर जीवन्त लेखक का धर्म है। हम लोगों ने भी अपने जमाने में परम्परा से विद्रोह किया था। दूसरों की बात तो मैं नहीं जानता, लेकिन मेरे यहाँ कथनी और करनी में बहुत अन्तर नहीं रहा। मैं जो बौद्धिक रूप से महसूस करता रहा, मैंने वही अपने जीवन में उतारने की कोशिश की—चाहे मैं उसके लिए काफी बदनाम भी हुआ। अपने समाज में जिन चीजों को मैंने बुरा समझा, उसे लगभग छोड़ दिया और जिन कुरीतियों के बारे में लिखा, उनको अपनी जिन्दगी में यथासम्भव नहीं आने दिया। नये कथाकार जिन्दगी की एब्सर्डिटी, निराशा, अनास्था, आत्महत्या, अकेलेपन और अजनबीपन की बात करते हैं, लेकिन उनकी जिन्दगियों में ऐसा कुछ नहीं लगता, जो अकेले और अजनबी अथवा जिन्दगी को एब्सर्ड और निरर्थक समझनेवाले के यहाँ होना चाहिए, और मैं देखता हूँ, जिन्दगी में अधिकांश लेखक वही पुराने रूढ़ि-रीति में ग्रस्त सामन्तवादी अथवा निम्नमध्य-वर्गीय हैं, हाँ, दिमागी तौर पर उन परम्पराओं से कट गये हैं। उनके यहाँ परम्परा से विद्रोह बौद्धिक स्तर पर है और इसीलिये उनकी रचनाओं में कहीं-कहीं अविश्वसनीयता का दोष आ गया है। लगता नहीं कि वे अपनी बात कर रहे हैं। इन्हीं कमजोरियों के कारण उनमें से अधिकांश ने समाज के विशाल क्षेत्र को छोड़कर, सच कहने के लिए, सीमित क्षेत्र को ही चुना है। लेकिन उनके यहाँ जो नयी दृष्टि है, वह मुझे आकर्षित करती है, हाँ उसकी सर्च-लाइट जितने सीमित क्षेत्र पर वे डालते हैं उससे मैं सहमत नहीं हूँ। लेकिन मैं यह भी जानता हूँ, हर लेखक के बस का यह काम है भी नहीं। इन्हीं में से कुछ ऐसे भी निकल आयेंगे जो इस नयी दृष्टि से काम लेकर नये क्षेत्रों में इस दृष्टि की सर्च-लाइट डालेंगे और जो देखेंगे उन्हें निर्भीक रूप से कहानियों के माध्यम से पाठकों के सामने रखेंगे। इतना मैं जरूर कहूँगा कि इन लेखकों के कारण पुरानी कहानी अपनी तमाम खूबसूरती और परिष्कार के बावजूद बोर लगने लगी है। पुरानी कहानी अब वैसी-की-वैसी लिखी जा सकती है, इसमें मुझे संदेह है। जो लिख सकते हैं या लिख रहे हैं, उनमें मुझे सहानुभूति है। मैं नहीं लिख सकता। और इसका श्रेय मैं नये लेखकों को देता हूँ और उनसे उस हद तक सहमत हूँ।

प्रश्न ३—आज के लेखक कलागत निरपेक्षता को छोड़ अपने भोगे और झेले को यथावत् रखने पर जो जोर दे रहे हैं, उससे क्या उच्चकोटि का साहित्य पैदा हो सकता है?

उत्तर—जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ—नहीं। सातवें दशक के अच्छे लेखक अपने

भोगे और झेले को यथावत् रख भी नहीं सके और उनकी अच्छी कहानियाँ बताती हैं कि वे कला का पूरा समावेश भी करते हैं। मिलावटहीन सत्य भी बिना कल्पना और कला के साहित्य नहीं बनता। कच्चा माल रह जाता है।

प्रश्न ४—क्या आप नये लेखकों के भविष्य के बारे में आशान्वित हैं?

उत्तर—आशान्वित हूँ, यह कहना कठिन है, और नहीं हूँ, यह कहना मेरी स्वभावगत आशावादिता के विपरीत पड़ता है। बहुत पहले मैं लेखकों से बड़ी जल्दी आशा बाँध लेता था, लेकिन मैंने देखा कि जिन लेखकों के बारे में मैं समझता था कि वे क्रांति उत्पन्न कर देंगे, वे चन्द दिन के शोर-शराबे के बाद आते-आते धन्धों में जा लगे। बीच की पीढ़ी के कितने ही लेखक, जिनसे बड़ी-बड़ी आशाएँ थीं, दस ही वर्ष में थके मालूम होते हैं। साहित्य की दौड़ वास्तव में मैराथॉन दौड़ है। कई दौड़नेवाले जो शुरू में आगे बढ़ जाते हैं, दस-पन्द्रह मील बाद ही दम तोड़ देते हैं, और कई बहुत पीछे मन्थर गति से भागते आनेवाले उन्हें जा ही नहीं लेते, पीछे भी छोड़ जाते हैं। वर्तमान दशक के इतने लेखकों में कौन अगले बीस-तीस वर्ष तक निरन्तर लिखता रहेगा, यह कहना मुश्किल है। हो सकता है, इनमें से कुछ लेखक लिखते रहें और उन आशाओं को पूरा कर दें, जो इस समय उनसे हैं। हो सकता है, इनमें आज जो प्रमुख हैं, वे कुछ आगे चलकर बैठ जायें और आज जो बैठते दिखायी देते हैं वे शक्ति प्राप्तकर खड़े हो जायें और तेजी से भागने लगें और उनको पीछे छोड़ दें। यह भी हो सकता है कि १९३० में प्रेमचन्द-युग को हटाकर 'नयी कहानी' का दौर लानेवालों की तरह ये सब-के-सब साहित्य को नयी दृष्टि और सम्वेदनाएँ देकर स्वयं खामोश हो जायें या दूसरे धंधों में जा लगें और आगे आनेवाले इनसे लाभ उठाकर नये क्षेत्रों को रौंद डालें। यह भी हो सकता है कि कोई बीच का या पुराना लेखक ही इस 'नये' को अपने में समो ले और प्रेमचन्द की तरह अपनी कला और दृष्टि का विकास कर ले। ···भविष्य के बारे में कुछ भी कहना औलियाओं का काम है, और मैं औलिया नहीं हूँ।

दूधनाथ सिंह

स्वर्गवासी

जैसे किसी ने भोथरी छुरी से अचानक उसका गला रेतना शुरू कर दिया हो··· गली में घुसते ही उसने जो कुछ देखा उससे हतप्रभ रह गया। उसकी टाँगों में एक झुरझुरी-सी रेंगती हुई ऊपर चढ़ने लगी।···वैसे इसका आभास उसे कई दिनों से था। इस बार जब से वह आया, बिना किसी सबूत के ही, उसने स्वीकार कर लिया था कि कहीं-न-कहीं कुछ गड़बड़ है। लेकिन इस तरह का दृश्य उसकी आँखों के सामने पहली बार ही आया। जो बात बिना किसी सबूत के उसने अपने अन्दर स्वीकार कर ली, वही जब उसके सामने घटित होती हुई दीख गयी, तो सहसा उसने विश्वास करना उचित नहीं समझा। अपने सन्देह को सचाई में बदलना देख वह डर-सा गया और उसे एक अजीब किस्म की घबराहट होने लगी। यह सोच लेना कि यह दृश्य उसी अर्थ में सच होगा, उसे गवारा नहीं था। उसके अन्दर हल्की-सी एक परेशानी की बू उठने लगी। इस बू से वह ऐसे घबराता था, जैसे किसी ने उसकी नाक में तेजाब उँडेल दिया हो। अतः उसे दूर करने के लिए उसने तर्क देना शुरू किया, जिससे वह दिखती हुई नंगी दुर्घटना मानसिक रूप से उसके अनुकूल हो जाय और वह दबकर बाहर निकल जाय।···इस शहर में उसके जीजा के गाँव के कई लोग और कई रिश्तेदार रहते हैं। हो सकता है, उन्हीं में से किसी का लड़का हो और जीजा घर में न हों, इसलिए वह बाहर

से ही मिल-मिलाकर चला जाना चाहता हो।···या हो सकता है, जीजा ने
सिनेमा से किसी गेट-कीपर या दूसरे लौंडे को किसी जरूरी काम से भेजा हो····
लेकिन इन दो सम्भावनाओं के बाद उसकी तर्क-शक्ति जवाब दे गयी और वह
उसके फेफड़ों के अन्दर घुटन पैदा करने लगी।···परेशानी में वह गली के मुहा
पर ही खड़ा हो गया और इन्तजार करने लगा। क्या वह आगे बढ़े और···पत
कर ले? कैसे व्यर्थ में ही यह उलझन खड़ी हो गयी!···वह गली में थोड़ा औ
आगे सरक आया और लैम्पपोस्ट की रोशनी के ठीक नीचे जाकर खड़ा हो गया
उसका चेहरा खिंच गया था और नुचड़-सी नाक का सिरा जलने लगा था
फिर उसने होठों में सिगरेट दबाकर माचिस की एक तीली फक् से जलायी औ
उसका उजाला अपने चेहरे के पास किये रहा।···अन्त में उसने सिगरेट सुलगा ल
और इतने जोर की एक धुएँ की पफ् छोड़ी···फूहूउउऊ···जैसे फुँफकारता हुअ
जहर उगल रहा हो। लेकिन उसकी ये चालें कामयाब होती नजर नहीं आयीं
उसकी भानजी उसी तरह खिड़की की सलाखें पकड़े बातें करती जा रही थी। लड़का
बाहर सीढ़ी पर एक पाँव रखे, अधझुका, एक कुहनी घुटने पर टिकाये, हथेली
अपनी ठुड्डी साधे हुए था। वह लड़के की लम्बी, छरहरी पीठ में छेद करत
रहा···। तभी वे दोनों किसी बात पर जोर से हँस पड़े। अब उससे नहीं रहा गया
उसने कई शब्दों पर जोर देकर सोचा—गुण्डा···शोहदा···आवारा···! लेकि
वह किसी अपरिचित के लिए इस तरह के शब्द जबान पर लाने से घबरात
था और नर्वस हो जाता था। जैसे वह अपरिचित उसका दिमाग पढ़ लेगा औ
उसे दे मारेगा। अतः वह बबड़ाकर कान पर जनेऊ चढ़ाता हुआ गली के पेशाब
घर में घुस गया। वहाँ की बदबू और सड़न के बावजूद वह तीन-चार मिन
तक धोती घुटनों के ऊपर सिकोड़े, पंजों के बल बैठा रहा। शायद वह उसी
तरह थोड़ी देर और बैठा रहता, लेकिन पेशावघर के बाहर जब एक-दो लोग
क्यू-नुमा ढंग से खड़े नजर आने लगे तो वह उठ आया और एक ओर हटकर फि
खड़ा हो गया। तब फिर उसने नजर उठाकर उस ओर देखा। उसका उस बद
में बेवजह धँसना भी बेकार साबित हुआ। वे अभी भी उसी तरह खड़े थे। व
झपटकर दो कदम आगे बढ़ा। फिर सहसा कुछ सोचता हुआ-सा रुक गया
उसके मुँह से कोई अस्फुट-सी, व्यर्थ-सी आवाज निकली जैसे उसके अनजाने ह
निकल गयी हो। फिर उसने हवा में उँगली उठाकर सड़क की ओर कुछ इशार
किया, जैसे कहीं, कोई चीज भूल आया हो।···और इस तरह वह तेजी से पीछे
को मुड़ा और तेज-तेज कदमों से सड़क की ओर चला गया।
सड़क की तेज रोशनी और भीड़ में वह चौंधिया-सा गया। असल में वह लौटन

नहीं चाहता था। इस अप्रत्याशित बाधा से अन्दर-ही-अन्दर वह बड़ा बेचैन महसूस कर रहा था।···बेमतलब-सा इधर-उधर देखता हुआ वह चलने लगा और भुनभुनाता रहा। कभी-कभी उसकी उँगलियाँ, दिशाहीन, उठ जाती और वह किसी चीज को पकड़ता हुआ-सा लगता, जैसे उसकी उँगली पर बैठी हुई बुलबुल अचानक उड़ गयी हो।···या वह अपने अन्दर से ही कोई चीज 'पिक-अप' करने का प्रयत्न कर रहा था। फुटपाथ पर एक जगह एक सायकिल-मरम्मत की दूकान थी। एक आदमी पंक्चर बना रहा था, दूसरा हवा भर रहा था। वह रुक गया और उन्हें घूरता रहा···जैसे ये सारे काम घृणित, व्यर्थ और अपराध से भरे हों। फिर वह सड़क के पार देखने लगा। उसे ठोस-कुछ नजर आने लगा। सड़क-पार उधर, वह पान की दूकान थी, जहाँ से वह उधारी पान खाता था।···वहाँ, उस तरफ वह मोटा हलवाई सुबह-सुबह गरमागरम जलेबियाँ बेचता है।···उधर, उस दवाखाने के सामनेवाली नीम-अँधेरी गली में कुछ मूँगफलीवाले खोमचे लगाये चीख-चिल्ला रहे हैं।···और उधर, वह साहू की दूकान है, जहाँ तेल के पीपे में बन्द जीजा की दवा (कच्ची शराब) मिलती है।···उसे अपने अन्दर वह चीज लौटती हुई मालूम हुई···कदम-कदम—वह निश्चिन्तता की सुगन्ध। और वह बू धीरे-धीरे मरने लगी। उसकी आँखों में एक दूसरे ही तरह की चमक आ गयी और चेहरे की तनी हुई नसें धीरे-धीरे ढीली पड़ने लगीं। इन चीजों के बारे में उसे सोचना नहीं था। सिर्फ, उसकी नजर उसे वहीं, सड़क के किनारे छोड़, अपनी प्रिय और परिचित चीजों की गन्ध—चुपचाप—पीछे जा रही थी।···तभी फिर एक दुर्घटना हो गयी। तेज-तेज चलते हुए उसने पाया कि वह काफी दूर निकल आया है। डॉट का पुल पीछे छूट गया—और सामने यह—संगीत विद्यालय है। अन्दर के अलग-अलग कमरों से एक ही राग रटती हुई या एक ही धुन पर नाचती हुई लड़कियों की 'कर्ण-कटु' आवाजें आ रही हैं।···उसे इस तरह टहलना और इतनी दूर निकल आना खुद को बड़ा बेतुका लगा। और संगीत-विद्यालय की ओर एक हिकारतभरी नजर फेंकता हुआ वह लौट पड़ा।···कहाँ-से-कहाँ वह इधर को निकल आया!···यहीं पर उसकी दोनों भान्जियाँ भी गाना सीखने आती हैं। और अब उनकी हिम्मत तो देखो—छोटकी को भी लाने लगी हैं! और वह? दिन भर जो आता है उसी के सामने पाँवों में घुँघरू बाँधकर 'जमुना के तट पर कृष्ण-कन्हाई' के बोल पर मान-मटके चलाने लगती है! पूह्ह! लेकिन इस 'मान-मटके' शब्द पर ध्यान जाते ही झट उसने अपनी जीभ दाँतों तले दबा ली। जैसे उसने खुद ही अपने हाथों अपने जीजा के घर की इज्जत सरे-आम बाजार में लुटा दी हो।···लेकिन वह करे तो क्या! यही वह चाहता है कि

सब-कुछ ठीक-ठाक रहे । लेकिन यही हाल रहा तो एक दिन जीजा भी दे
और बहिन भी पछतायेंगी । लेकिन बहिन का क्या है ! वे तो बस नाक फुला
और कुछ न खाना जानती हैं । और जीजा की तो मति मारी गयी है । जो आ
है उसी के सामने अपनी लाड़ली बेटियों का बखान करने लगते हैं ।···'
वीना ! बहुत अच्छा नाचती है ! हाँ बेटी, नाच जरा आपको भी दिखा
तो !···यह मेरी बड़ी लड़की है । 'संगीत-प्रभाकर' कर रही है !' ऐसे क्ष
पर वह अपनी बैल-सी आँखें निकालकर सारे लोगों और सारे वातावरण के
घूरता हुआ, उस तरह के प्रस्तावों या हँसी-ठहाकों के प्रति अपनी अवज्ञा भर प्रक
करता रहता और मन-ही-मन चाहता कि कैसे ये सारे लोग (सिर्फ उसके जीजा
को छोड़कर) जहन्नुम में चले जायें । कभी-कभी जब बहुत देर हो जाती, और
मजमा जमा ही रहता, और वह एक अनपेक्षित तत्व की तरह सभी की आँखों में
चुभने लगता, और लोग बार-बार आँखें उठाकर मौन जिज्ञासा प्रकट करने लगते
कि वह कौन है, तो वह घबरा जाता । तभी जीजा उसकी ओर आँखें उठाकर
देखते हुए मुस्कराने लगते । मजमे में शामिल होने का उनका यह मूक आमंत्रण
उसके लिए असह्य हो जाता, और इसके पहले कि उसका परिचय वे उन सभी
'चरित्र-रहित', 'नाकारा', 'शोहदा' लोगों से करा दें, वह एक झटके से पर्दा
उठाकर कमरे से बाहर हो जाता और जल्दी-जल्दी सीढ़ियाँ चढ़कर ऊपर बहिन के
पास चला जाता ।

कहाँ-से-कहाँ ये बातें उठ गयीं ।···जीजा से कहना तो पड़ेगा ही । हालाँकि
वह कुछ भी कह नहीं पाता है । जो बात कहने के लिए वह पन्द्रह दिनों से यहाँ
आकर पड़ा हुआ है, वही नहीं कह पाता । बहिन के कानों में वह कई बार डाल
चुका है । वे सिर नीचा कर लेती हैं या गोश्त का मसाला भूनते हुए खाँसने का
बहाना बना लेती हैं । यह, बहिन भी अब नाक-भौं सिकोड़ने लगी हैं । अब मैं क्या
करूँ ? मैं ही अकेले थोड़े उन छँटनीवालों में था ! और अगर मुझे कुछ नहीं
होता···मैं बीमार नहीं पड़ता···तो इसमें मेरा क्या दोष ! और कैसे कुछ नहीं
होता ! ये लोग—यहाँ से वहाँ तक—क्या मुझे कम परेशान किये हुए हैं ! अ
परेशानी का दिखावा कैसे किया जाय ! क्या मैं मर जाऊँ, या अपना अंग-भंग कर
लूँ, या भोजन न करूँ !··· उसे पिता की याद आती—चलते वक्त उन्होंने
हिदायत दी थी, 'जाकर सीधे जीजा से कहना । बहाने मत बनाना । कहना
वे खुद तुम्हें लेकर लखनऊ चलें जायँ और काम करा लायें । तुम वहाँ टाल
मटोल मत करना और काम के बाद तुरत घर चले आना । रुकना मत ।' पिता
ने 'रुकना मत' पर जोर दिया तो उसे लगा कि कोई चीज उससे जबर्दस्ती छीन

रहे हैं। 'हाँ, हाँ…रुकना मत ! वहाँ आकर देखना पड़ेगा। अगर ऑर्डर आ गया, तो सारे कागजात दुबारा एक सिरे से दूसरे सिरे तक देखने-समझने पड़ेंगे। चार्ज सँभाल के लेना होगा। नया लेखपाल जरूर कुछ गड़बड़ करके जायेगा, जिससे बाद में हमारी परेशानी बढ़े। जल्दी करना।' उन्होंने फिर कहा, 'अन्दर बहू की हालत नाजुक है…।' पिता कह चुके थे; उसके बाद भी वह आँखें फाड़े निरुद्विग्न भाव से मिनट-भर तक उनकी ओर देखता रहा। फिर बड़े आहिस्ता-आहिस्ता वह घर के अन्दर चला गया—जैसे उसे कहीं नहीं जाना हो। उसे अपने जीजा पर विश्वास था और वह जाने की तैयारी ऐसे कर रहा था, मानो लखनऊ जाकर ऑर्डर देना भर हो और वे लोग तार से तहसील में सूचित कर देंगे कि श्री श्रीकृष्णलाल को फिर से लेखपाल के रूप में बहाल किया जाय। चलते वक्त पत्नी की ओर देखकर वह मुस्कराया। वैसे पत्नी पर इसका कोई असर नहीं पड़ा। उसके लिए वह सारे विवाहित जीवन में अँधेरी-रातों में तूफान की तरह आता और ओले-पानी बरसाकर शान्त भाव से मुस्कराता हुआ चला जाता था। इस तरह उसने छः सन्तानें पैदा की थीं और सातवाँ आनेवाला था।…लेकिन आज की उसकी वह मुस्कराहट किसी विजेता की मुस्कुराहट से कम नहीं थी। सुर्ख़, मनस्वी, निर्द्वन्द्व और अन-आहत। जैसे इस बार वह कारूँ का खजाना लेकर ही लौटेगा।…लेकिन स्टेशन आने पर उसकी गाड़ी छूट गयी थी। वह दरी-तकिये का बण्डल वहीं एक पान की दूकान पर छोड़कर घर लौट आया था और दुबारा खाने की फर्माइश की थी। फिर वह निर्द्वन्द्व भाव से सो गया था, जैसे वह यात्रा से लौट आया हो—सफल होकर, और अब सुख-पूर्वक थकान मिटा रहा हो।…

…लेकिन पिता का खयाल आते ही उसे अपने भीतर एक अपराध-भाव महसूस होने लगा। 'अब यही तो परेशानी है !' वह शिकायत के लहजे में बुदबुदाया। पिता के बुढ़ापे और असहायता पर उसे चिढ़ होने लगी।…फिर उसे पत्नी का खयाल आया। ज्यादा बच्चे होने की वजह से उसके दाँत फैल गये थे और बाहर निकल आये थे। कोशिश करके वह होंठ बन्द करती, तो उसका मुँह पोपला हो जाता, फिर भी एक दाँत होठों के बाहर झाँकता रहता। उसे घिन-सी लगती और…'अब यही तो परेशानी है सुसरी'…बुदबुदाहट की फिर आवृत्ति…।

यह गाली वह अपनी पत्नी को गाहे-ब-गाहे, छुक-छिपकर दे लेता था !)…फिर उसे बहिन का खयाल आया…आँखें चौपट होती जा रही हैं लेकिन तम्बाकू खाना छोड़ेगी नहीं। चश्मे से क्या होता है ! टटोलने लगती हैं अंधों की तरह। अब यही सब बाकी रह गया है !- और जीजा ! कभी दिल्ली, कभी इलाहाबाद,

लखनऊ, बनारस, बम्बई।···कैसे मुहब्बत···उसकी दुअन्नी। [illegible]
में कर दिया; [illegible] ! [illegible]
और साल को? 'भैया! क्या लाओगे; बाबू! क्या लाओगे; [illegible] साहब! क्या [illegible]
चले जाओ।' इतने हाथ आ गये हैं। अपनी मजदूरी का ख्याल ही नहीं।
नहीं कि चुपचाप खाये और चैन से पड़ रहें। [illegible] आराम बन
गये न!···और ये कलकियां! ये भी हमारे दुश्मन···। 'अब नहीं तो क
परेशानी···' अचानक वह रुक गया और इधर-उधर देखने लगा। जैसे
रास्ता भूल गया हो या किसी मकान का पता पूछने के लिए किसी गुजरने
का इन्तजार कर रहा हो।···हाँ, यो सही! सड़क-पार इमली पटरी पर
मूँगफलीवाला खोमचा लगाये खड़ा था। उसने तेज़ी से सड़क पार की,
लगभग उसे आँखें दिखाते हुए-से, उसके हाथ में दुअन्नी रख दी, 'मोटी-ताज़ी म
दे!' और खुद ही दोनों हाथों से मूँगफलियाँ चुनने लगा।

दो-चार मूँगफलियाँ तोड़ने के बाद जिसे कुछ शान्ति हुआ और वह धीमे-
गुनगुनाता हुआ चल पड़ा। सड़क के किनारे-किनारे की छोटी-छोटी, [illegible]
चाय, बेकरी, कोयले या लकड़ी की दुकानों के अन्दर वह इस तरह झाँकता
चल रहा था जैसे किसी चोर-बाज़ारिये को अभी रंगे-हाथों पकड़ लेगा।
दूर चलने पर अचानक एक अँधेरी गली के छोर पर वह रुक गया। उसकी
गोश्त की अँधेरी दूकान की ओर चली गयी। चपटियोंवाली पुरानी,
चिक लटक रही थी और उसकी झाँझर से निच्छ (गोश्त काटा जानेवाला
का टुकड़ा) दिखाई दे रहा था।···यहीं से वह कलेजी ले गया था। उसे घ
पकती कलेजी की याद आयी और वह मस्ती से हँस पड़ा। जब वह
निकला था तो लहिन मसाला भून रही थीं। अब तक कहीं···उसे हल्की
चिन्ता हुई। फिर वह जल्दी-जल्दी मूँगफलियाँ तोड़ता हुआ 'शार्ट-क
जाने के लिए वहीं से गली में घुस गया।

वह सचमुच ही भूल गया था। उसे लगातार शोरबेदार कलेजी की या
रही थी। वह सीधे, ऊपर रसोई में जाना चाहता था। लेकिन बैठ
दरवाजा खुलते ही उसे जोर का धड़ाका-सा महसूस हुआ। वह किंकर्तव्य
सा कुछ क्षणों तक दरवाजे के बाहर ही खड़ा रहा। उसकी मुखाकृति विकृत ह
और आँखें उसी तरह बाहर को निकल आयीं।···उसकी भानजी 'उसो' [illegible]
साथ बैठी हुई बातें कर रही थी। खटखटाने पर उसने उठकर दरवाजा
दिया और बैठकर निडर भाव से बातें करने लगी। वह छलाँग लगाता हु

न्दर के दरवाजे की ओर बढ़ गया। लेकिन निकलने के पहले अचानक ही वह ना और उन लोगों को घूरता हुआ खड़ा हो गया। फिर उसने जेब से सुर्ती का ुआ निकाला और हाथ की गदोरी में थोड़ी-सी सुर्ती रखकर मलने लगा। इस ्या में उसने जरूरत से ज्यादा वक्त लगाया। लेकिन इसका कोई फल नहीं ्कला। उसकी भानजी के नथुने एक बार फड़ककर शान्त हो गये और वह सी तरह किसी बात पर हँसने लगी। फिर वे अंग्रेजी में बातें करने लगे। ो कि वह थोड़ी-बहुत कामचलाऊ अंग्रेजी जानता था, लेकिन बातें उसकी समझ ं नहीं आ रही थीं। उसे शक हो आया कि वे जरूर लफंगई की बातें कर रहे ैं। लड़की ने किसी बात के जवाब में कहा, 'ओह नो, इट्स इम्पॉस...' तो से यकीन हो आया कि उसे धोखा दिया जा रहा है। तब उसने जोर से सुर्ती ा फटका मारा। इसकी गर्द हवा में उड़ते ही उन दोनों को छींकें आनी शुरू ो गयीं। उसने फटका मारने की क्रिया को बेवजह दो-तीन दफा दुहराया। सके बाद अन्तिम नजर से घूरता हुआ कमरे के बाहर निकल गया।

...यह घर है या कूड़ाखाना (भटियारखाना ...चकलाखाना...)—सीढ़ियाँ चढ़ते ुए उसके भीतर फिर वह असन्तोष शुरू हो गया—ये सारे लोग उसे जिबह करने र तुले हुए हैं। ये लड़कियाँ तबाह करके ही छोड़ेंगी। इन्हें जरा भी डर हीं रह गया है। उसे लगता कि अगर उसने जिम्मेदारी नहीं निभायी तो उसकी बहन का घर बर्बाद हो जायेगा। वह बहिन से जरूर कहेगा।...ऊपर आकर उसने देखा कि बहिन रोटियाँ सेंक रही है और दोनों छोटे बच्चे अचार के लिए धमा-चौकड़ी मचाये हुए हैं। उसने खखारकर अपनी उपस्थिति जतायी लेकिन बहिन को उसके क्रोध का कोई अन्दाजा नहीं हो सका। उन्होंने चश्मे के भीतर से एक बार झाँककर देखा और फिर बच्चों को डाँटने लगी।...अब यही तो बात है! किसी को कोई फिक्र ही नहीं है। लेकिन वह कुछ करके रहेगा! भले ही ये सारे लोग दुश्मन बन जायँ। बाद में इन्हें समझ आयेगी और तब ये याद करेंगे कि इनका कोई मामा था...कोई भाई था...कोई साला था...। पहले यही लड़कियाँ, जब छोटी थीं तो, कितना अदब करती थीं।

हाँ, इसे वह अदब ही समझता था और अपनी इस अधिकार-वापसी के लिए वह बेचैन था।...तब उसकी दोनों भान्जियाँ छोटी थीं। गली में किसी आइसक्रीम या चाटवाले की आवाज सुनकर या पड़ोसों को किसी बात पर लड़ते देखकर वे उत्सुकतावश खिड़की पर खड़ी हो जातीं। कभी-कभी वे सामने के बार्जे पर खड़ी अपनी सहेली से बातें करतीं, या उसके भाई के साथ जन्माष्टमी पर कृष्ण-लीला का प्रोग्राम बनातीं, या अपने गुड्डे-गुड़ियों के शादी-ब्याह की चर्चा

करती।···एक दिन ऐसे में ही वह कमरे में आया। थोड़ी देर तक तो
इन्तजार करता रहा। फिर उसने दोनों लड़कियों के 'झोंटे' पकड़कर [illegible]
से अलग कर दिया और [illegible] निशान किये। उस दिन से
उसकी भानजियाँ उसकी आहट पाते ही खिड़की से भाग जातीं। जितने
वह रहता, वे भयाक्रान्त-सी उसे ताकती हुई खाट या चौकी के नीचे या माँ
कमरे में सिमटी पड़ी रहतीं। उनका गुड़ियों का खेल या [illegible] का प्र
या होली की पिचकारियाँ बन्द हो जातीं और सारे घर में अजीब-सी मुर्द
जाती। (वह अक्सर त्योहारों पर ही तशरीफ लाता था···जब घर में
मनाये जाने के 'नार्मल ग्राउंड' हों।) अपने इस रोब का वह अन्दर-ही-
जायजा लेता और गर्व से बहिन की ओर देखता हुआ मुस्कराता रहता।
बार जब वह आया तो उसे लगा कि उसका प्रभाव कुछ कम होता जा रहा
लड़कियाँ चिबिल्ली होती जा रही हैं। तब उसने दूसरे उपाय अपनाने
किये। वह जोर से उनकी उँगली दबा देता, या उँगली उलटकर सिर में
टहोके लगा देता, या चिकोटी काट लेता। एक दिन आलपीन का टुकड़ा
भानजी के अंगूठे में चुभाते हुए उसने कहा, 'दिल्लूऊ !' फिर एक दिन
मुँह में पान की पीक भरे बाहर से आया। छोटी भानजी को इशारे से
बुलाकर उसने उँगली और अंगूठे से उसके गालों को इतने जोरों से दबाया
उसका मुँह चिड़िया की चोंच की तरह खुल गया। मुँह खुलते ही पान की
पीक पूरी-की-पूरी उसने भानजी के मुँह में उलट दी···। बड़ीवाली भा
चीखती हुई माँ के कमरे की ओर भागी और जाकर पलंग के नीचे छिप ग
वह हँसता हुआ, दौड़ा आया और उसे ढूँढ़ने लगा—जैसे किसी चुहिया को
निकालने की फिराक में हो।···इस तरह के आनन्ददायक खेल वह अपने
और छोटे भाई से भी उन दिनों खेला करता था।···जैसे बच्चों के उभरी नसों
पेट पर नाखून से सफेद गहरी लकीरें खींचना, बीड़ी से उनका हाथ जला
या उनकी हथेली आगे निकलवाकर उस पर थूक देना।···
खाट पर बैठा हुआ वह, शिकार के बाद निश्चिन्त, ऊँघते हुए बनबिलाव
तरह दीख रहा था। उसकी मुखाकृति शान्त और निष्कपट लग रही थी।···
दिन थे ! और अब ? ये लड़कियाँ ! उसका छोटा भाई···मोटका !
उसके दोनों बड़े लड़के—आवारे ! एक ईंटों के भट्ठे पर कौड़ियाँ बाँटता
और दूसरा घोसी स्टेशन के ओवरब्रिज पर बैठकर भीख माँगता है !···जैसे उ
मूर्च्छा-सी टूटी। वह चारों ओर देखने लगा कि वह असल में कहाँ है !
वह जल्दी से उठा और चौके में जाकर पीढ़े पर बैठ गया। जब खाना स

गया तो वह सब कुछ भूल चुका था।···रोटी का पहला कौर तोड़कर उसके साथ ही, इन अर्थहीन दुश्चिन्ताओं के नारकीय क्षणों को उसने कलेजी के शोरबे में डुबोया और खूब चबा-चबाकर निगल गया। एक हल्की-सी मुस्कराहट की आभा में उसका चेहरा डूब गया और वह बिल्कुल निरुद्विग्न भाव से सिर नीचा किये खाने में तल्लीन हो गया।···

एक हफ्ता और बीत गया। वह अपने जीजा के साथ लखनऊ हो आया था। कोई उम्मीद नहीं थी। वहाँ सीधे उसने किसी से भी बात नहीं की। उससे कुछ भी पूछा जाता तो वह अपने जीजा की तरफ देखने लगता। जब वे बोलने लगते तो वह मेज के दूसरे किनारे से खड़ा-खड़ा मुस्कराता रहा—जैसे 'अब ? इसके आगे ?' जीजा के बैठने पर वह बैठ जाता और फिर उनके उठने को 'वाच' करता रहता। उनके उठने पर वह भी तुरत एक कठपुतले की तरह उठ जाता। कई बार वह बीच में ही उठकर बाहर चला जाता और चपरासियों को सुर्ती बनाकर देने लगता। एक बार एक जगह से उसके जीजा निकले तो पाया कि वह गायब है। इधर-उधर देखने के बाद जब वे कार्यालय की चारदीवारी से बाहर आये तो देखा—वह एक बेंच पर बैठा हुआ आराम से चाट खा रहा है। उन्हें देखते ही वह झट से उठ आया और चुपचाप उनकी बगल में रिक्शे पर बैठ गया।

'वे लोग कहते हैं, तुम्हारे खिलाफ बहुत से चार्जेज थे ?'

वह उन्हें घूरने लगा—जैसे—'तुम किस मर्ज की दवा हो ?'

'वे कहते हैं, शुक्र है, तुम बच गये···वरना !'

वह जरा-सा परे खिसक गया और सड़क के दूसरी ओर देखने लगा।

घर में सन्नाटा था। किसी ने उससे कुछ नहीं कहा। उसे देखकर कुछ भी नहीं लगता था। बहिन की आँखों में एक झिलमिलाहट-सी तैर जाती उसे देखकर। 'बहू के बच्चा कब होनेवाला है !' वे पूछतीं। वह चुपचाप नाश्ता करता। वे दो-तीन दफा उसकी ओर देखतीं, फिर दुबारा पूछने की हिम्मत नहीं होती। वह उठकर नीचे चला जाता। दरवाजे की तिरछी धूप में उसकी खल्वाट चाँद चमकती और पेट की त्रिवलियाँ चलते वक्त हिलती जातीं। वह अपने बच्चों के प्रति सर्वथा निश्चिंत रहता और बहुत कम बातें करता।···कभी-कभी अचानक वह पाता कि उसका भिखमंगा लड़का चुपचाप रसोई में रोटी खा रहा है···या माँ उसके सिर में तेल लगा रही है···या भट्ठे पर कौड़ियाँ बाँटनेवाला लड़का लाल लँगोट बाँधे आँगन में कसरत कर रहा है···या छोटे बच्चे एक ही खाट पर तिरछे-तिरछे सो रहे हैं।···ऐसे अवसरों पर उसकी आँखों में एक अनुदिग्न

का भाव आ जाता और ललाट चाँद और पेट की त्रिवलियों में फँसे
चमकने लगता।···उसके पिता उसकी चमकती हुई चाँद और त्रिवलियों को दे-
कर निश्चिन्त हो जाते—'लड़का हमारा राजा का भाग्य लेकर पैदा हुआ है।
राजाओं पर भी विपत्ति आती है। पेट में उसके ब्रह्मा-विष्णु-महेश—त्रिदे-
की पेटी है। ललाट में चन्द्रमा की आभा है।···कई दिन हो गये। लगता है
काम अटक गया। परेशानी होगी।'

लेकिन वह बिल्कुल परेशान नहीं नजर आ रहा था और अपनी चन्द्रमा की आभा
और त्रिदेवों की पेटी लिए आनन्द मना रहा था। तड़के वह सैर को निक-
जाता। फिर जीजा से पैसे लेकर गोश्त या मछली (अपनी इच्छानुसार), सब्-
सब्जियाँ, दूध—सब ला देता। फिर गोश्त काटता और धोकर पतीली पर र-
देता। जरूरी बर्तन चूल्हे के निकट सरका देता और कभी-कभी चूल्हा भी
सुलगा देता। फिर वह आँगन में ही नहाने बैठ जाता। स्वस्थ, सुडौल, गोल-
मटोल, नन्हा-सा आदमी। पानी डालते वक्त वह अपनी देह को बड़ी आसक्ति
और तुष्टि के साथ निहारता। नहाने के बाद एक तौलिया लपेटे हुए हाथ में
शीशा-कंघी लेकर वह आँगन में खाट पर बैठ जाता और काफी देर तक मुँह
फोड़ता रहता। या शीशे की आड़ करके तरह-तरह से मुँह बनाता, मुस्कराता,
होंठ ऊपर-नीचे करके, नाक सिकोड़कर या भौंहें चढ़ाकर अपनी अलग-अलग शक्ल
देखता···खाना खाने के बाद वह बगल के लम्बे-अँधेरे कमरे में चला जाता।
अन्दर से दोनों दरवाजे बन्द करके अन्तिम रूप से आश्वस्त होकर वह बदन तोड़ता
और मुँह से आरामभरी सिसकियाँ निकालता—'आहाह···आहाह···आहाह···
कितना थक गये!' वह बिस्तर पर पड़ जाता और निश्चिन्त भाव से फुसफु-
साता—'चूल्हे-भाड़ में जायँ सब···ओफोफ!' दरवाजे की पतली झिरी से रोशनी
का लम्बा तार अँधेरे में झाँकता तो वह आँखों पर बाँह रख लेता। दो-तीन
मिनट बाद ही वह खर्राटे लेने लगता।···

लेकिन कुछ दिनों बाद ही अचानक उसका यह उत्साह मर गया। वह सबकी
नजरों से बचने लगा। उसने तड़के उठ कर सैर को जाना बन्द कर दिया और
दिन चढ़े तक सोने का बहाना किये ऊपर ही पड़ा रहने लगा। गोश्त लाने और
बर्तन सरकाकर चूल्हे के पास करने से लेकर आँगन में नहाने तक का सारा कार्य-
क्रम अचानक ही ठप्प हो गया। सुबह उठते ही वह छत की झंझरियों से नीचे
आँगन में झाँकता और सारे घर की गतिविधियों पर गौर करता। आँगन में
जीजा को गोश्त धोते देखकर वह आश्वस्त हो जाता।—मिलेगी! फिर नाक-
मुँह पर अंगोछा बाँधकर सबकी आँखें बचाता हुआ वह नीचे उतरता और निवृत्त

होने चला जाता। वहाँ वह आँखें मूँद लेता, और सुरक्षित महसूस करता। फिर वह अपनी जेब से मनोरंजनार्थ कई-कई सपने बाहर निकालता, और उन्हीं में डूब जाता···बचपन में किस कदर उसका पेट खराब हो जाता था! अब उस तरह का भोजन कहाँ मिलता है! दुनियाँ सड़ती जा रही है और अच्छी चीजें एक-एक करके लुप्त होती जा रही हैं! तब वह छोटा था। कितना सुख था तब! कितनी सारी चीजें मुफ्त में मिल जाती थीं!···वह पिता के साथ-साथ पड़ताल पर जाता। गन्ने का रस, हरे चने, दही-चिवड़ा, दूध-मलाई, आम—ठेलमठेल। एक बार तो कै-दस्त आने से वह मरते-मरते बचा था।···और बुआ के यहाँ से पुए! दाँत से काटो तो घी चूने लगता था।···वह जाता तो आने का नाम ही न लेता। पिता लिवाने जाते तो वह बुआ की गोदी में मुँह छिपाकर रोना शुरू कर देता।'···टट्टी सीढ़ियों के बगल में ही थी। ऊपर से जीजा के उतरने की आहट होती तो वह जल्दी से मीठे सपने तोड़-मरोड़कर गन्दी सी जेब में वापस ठूँस लेता। उसका डर कम होने लगता। बाहर के किवाड़ खुलते, फिर धड़ाम् से बन्द हो जाते। उधर जीजा के जूतों की टक-टक गली में दूर जाने लगती, इधर वह टट्टी की कुंडी खोलता।

भूख लगने पर भी अब वह बिना बुलाए खाना खाने नहीं जाता। खाते वक्त वह बहुत गम्भीर रहता और थाली के अलावा किधर भी नहीं देखता। ऐसा लगता, मानो वह अत्यन्त गंभीर और क्षुब्ध है। खाना जल्दी-जल्दी खत्म करके वह 'अपने' कमरे में चला जाता और दोनों ओर से पूर्ववत् दरवाजे बन्द कर लेता। तब अँधेरे में उसके चेहरे पर एक अनिर्वचनीय मुस्कान फैल जाती। फिर वह सहसा सजग हो जाता और आवाजों पर कान लगा लेता। उसे लगता कि धीरे-धीरे उसकी नींद हराम होती जा रही है। घर के सन्नाटे में जरूर उसके खिलाफ कोई खिचड़ी पक रही है। हर जगह खुसुर-फुसुर चल रही है।···हर करवट पर उसके खर्राटे सम पर आ जाते और अँधेरे साँय-साँय में उसकी आँखें अगले किसी 'भयावह कल' की कल्पना से मिचमिचाने लगतीं। वह उठकर बैठ जाता और गौर करने लगता। गर्मियों के दिन। सारी गली से भाप उठती और मकानों को बेधती हुई अन्दर गैस की तरह पसरना शुरू कर देती।···'यह सब क्या हो रहा है? चूल्हे-भाड़ में जायें सब···ओफ!' वह जैसे खुद से छुटकारा पाने के लिए बुदबुदाता और लेटने की कोशिश करता।···बगल के कमरे से ठहाके और लड़ने-झगड़ने की आवाजें सुन पड़तीं। ताश···कैरम···शतरंज! 'निकम्मे···हूँह···!' फिर किसी छोटे बच्चे के साथ सबके खेलने की आवाज···'वह यहीं है,!···बोलो बेबी!' छोटी भानजी कहती···। सबकी आँखें बेबी पर। 'वह मर गया

है···कहो बेबी।' सबकी जीभ दाँतों तले। आँखें बगलवाले कमरे की ओर 'वह भारत का लाल है···जवाहरलाल है···आराम हराम है···बोलो बेबी।' स चुप। 'चल बे गुलाम'···! हाय मेरे गुल्मा ! हाय मेरे जोकर ! हाय मेरा बेबी हाय मेरा रबर का बबुआ ! हाय मेरा मोटका !'···कई आवाजें औ ठहाके।

'क्या बोलो बेबी, बोलो बेबी, लगाये हो तुम लोग ? हमारा बेबी नहीं बोलेगा हमारा बेबी चुप रहेगा। चुप रहो बेबी। हमारा छुन्नू खायेगा। क्या खायेगा कुछ भी खायेगा···अण्डे खायेगा···कलेजी का शोरबा चाटेगा···भुजिया खायेगा·· आइसक्रीम···आइच्छक्लीम। नहीं ? फिर मूँगफली ? चाट ? लखनऊ के दही बड़े ? नहीं जी, हमारा छुन्नू सोयेगा ! सो जाओ मेरे लाल ! मेरे गुटरगूँ ·· मेरे कबूतर···।' सभी जोर से हँसते हैं।

कमरे के अन्धकार में वह निर्विकार भाव से मुस्कराता रहता। एक खलनायक की तरह, जो अपनी उत्पन्न की गयी प्रतिक्रियाओं का आनन्द ले रहा हो। फिर वह सोने की कोशिश करता। लेकिन तीसरे पहर गली में गायें रंभाने लगतीं, लू तेज हो जाती, और आस्मान से भभका गिरने लगता। फिर पीछे की मस्जिद से अजान की ऊँची आवाज सुनाई पड़ती। वह जनेऊ से पीठ का पसीना काँछता खुजलाता, झुँझलाता रहता। बाहर, गली में एक बुढ़िया कहारिन फटे बाँस की-सी आवाज में चिल्लाती, 'ये नई रंडी आयी है ! ढंग तो देखो इसके ! अरे कहूँगी पंडों से, तेरी टाँग चीर के रख देंगे। तू क्या समझे है ! इस गली में बी मर्द रहते हैं। हियाँ आई है अपना खौर फैलाने !' वह दरवाजा खोल के खड़ा हो जाता, और बुढ़िया को घूरने लगता। दरवाजा खुलने की आवाज से बुढ़िया उसकी ओर मुखातिब होती, 'मैं कऊँ—ढंग तो इसके देखो, लाला !' दूर गली में एक बनी-ठनी औरत उसे अंगूठा चिढ़ाती होती। तभी बगल के कमरे का दरवाजा खुलता और जीजा जोर से चिल्लाकर बुढ़िया को डाँट देते। उनकी आवाज सुनते ही वह कछुए की तरह अपनी गर्दन दरवाजे के अन्दर कर लेता··· थोड़ी देर बाद फिर कोई दरवाजा खटखटाता। खोलते ही एक बुड्ढे का पोपला मुँह घुस आता···

'जदि महानुभाव की आज्ञा हो तो मैं अन्दर आ जाऊँ ?'

'आइए।'

बुड्ढा आकर चुपचाप कुर्सी पर बैठ जाता और हैरानगी से उसकी ओर देखने लगता।

'बुरा न मानें तो एक बात कहूँ ?' बुड्ढा फिर कहता।

कहिए।'

ज़रा किसी बच्चे को बुला दीजिए।'

वह उठकर नौकर को आवाज दे देता।

यहाँ से मुझे रोज दो रोटी बँधी है,' बुड्ढा कहता, 'आप महानुभाव कौन हैं ?'

लालाजी मेरे जीजा लगते हैं।'

अच्छा···अच्छा···सुखी होईए···जरा पाईए।'

वह घूरने लगता।

महानुभाव कहाँ काम करते हैं ?'

वह इधर-उधर देखता, फिर कहता, 'अपने ही शहर में।'

बुड्ढा पानी माँगता। फिर पानी पीने के बाद उसी संकोच से उसे देखता, 'जदि महानुभाव की आज्ञा हो तो थोडी देर मैं इस खाट पर लेट जाऊँ ?' वह खाट से हट जाता।

'दरअसल, महानुभाव के शुभागमन के प्रथम मैं ही इस पर विश्राम किया करता था।' बुड्ढा लेट जाता और आँखें बन्द कर लेता।

शाम होते ही वह खाना खाकर छत पर चला जाता। पावर-हाउस की चिमनी से निकलनेवाली कोयले की छाई धूल की मानिन्द हल्की-हल्की गिरती रहती। वह सप्तर्षियों के बीच अरुन्धती को ढूँढने लगता। तारा न दिखता, तो वह बार-बार आँखों के पपोटे मलता और उसे ढूँढ निकालने की कोशिश करता। पिता बचपन में कहा करते थे, 'जिसे अरुन्धती नहीं दिखाई देता, वह छ महीने से अधिक जिन्दा नहीं रहता।' वह फिर पपोटे मलता और आँखें गड़ा देता।··· शायद आँखें खराब हो रही हैं···तन्दुरुस्ती भला इस तरह से रहेगी ! यह सब चिन्ताओं के कारण है। या···या ? उसके अन्दर एक हल्की-सी दहशत समाने लगती।···नहीं, शायद चाँदनी गहरी है। उतना छोटा तारा दिखना मुश्किल है। (वह अपने जीवन को 'कन्फर्म' करने के लिए अँधेरी रातों का इन्तजार करने की सोचता।) ···जहन्नुम में जायें अरुन्धती और यह सारी दुनियाँ···'आहाह···आहाह···आहाह !' वह मुखभरी सिसकारियाँ निकालता और करवट बदल लेता।

•

लेकिन उसकी यह नियमित दिनचर्या भी ज्यादा दिन नहीं चल सकी। उसे डेढ़ महीने के करीब हो रहे थे। अचानक एक दिन उसने महसूस किया कि सभी लोग मिलकर उसे ढूँढ रहे हैं, और कोई बात कहना चाहते हैं। या तो दोपहर में, जब वह कमरे में 'थोड़ा आराम' करता है, वे उसे पकड़ लेंगे, या खाना खाते

समय, या रात को ऊपर छत पर। वह जिस किसी को भी कनखियों से देखता उसे लगता, वही उसकी खोज में है। कौन-सी बात खोली? क्या वे सचमुच ऐसा करेंगे? उसने चारों-चारों से सबको (दूर-ही-दूर से) आजमाया। लेकिन कहीं उसे सहानुभूति लिए उठती नजर नहीं आयी। हाँ, हाँ, वे क्यों नहीं चाहेंगे कि वह चला जाय! लेकिन बहिन के रहते···! तो क्या जीजा और बहिन में अब···? उसका मुँह एक बनावटी गुस्से, और गहरे आसन्न भय से फूल जाता। उसे लगा कि अब यहाँ रहना निरापद नहीं है। उसे चारों ओर हवा में अनार की सूइयाँ चुभी हुई नजर आतीं, और जिधर भी ताजी हवा के लिए वह घूमता, उसे खरोंच लग जाती। बच्चे तड़-तड़ जूते बजाते हुए उसके सामने से निकल जाते। गोश्त में लगातार इधर उसे गोल बोटी दी जा रही थी, और गोश्त मिलना मुहाल हो गयी थी। जीजा ने अपनी दवा उससे मँगवानी बन्द कर दी थी। रात में अक्सर बहिन से जीजा किसी बात पर जोर-जोर से बहस करने लगते। दोपहर भर लड़कियाँ हँसी-ठट्ठा करतीं, बच्चों के बहाने उस पर ताने कसतीं, या 'लफंगों' के साथ घूमने निकल जातीं।···अपने वक्त पर बुढ़िया-पुराण, बुड्ढे का पोपला मुँह, गायों का रँभाना, सामने के छज्जे पर निरुद्देश्य भाव से खड़ी लड़कियाँ और किसी खम्भे के पास इकट्ठे शोहदे '···आखिर ये सब किस बात पर तुले हुए हैं?'···वह घबराकर घर से बाहर निकल गया।···

इसमें वह कुछ हद तक सफल रहा और सारे घर के लोगों की आँखों से बचा रहा। उसे उम्मीद थी कि इस बीच जीजा कहीं चले जायेंगे, या घर में किसी को कुछ हो जायेगा, और सबका ध्यान उसकी ओर से हट जायेगा। रोज जल्दी-जल्दी खाना खाकर वह घर से निकल जाता और अपने लिए ठौर खोजता।···गो कि वह इस तरह के जीवन का आदी नहीं था और दोपहर में खाने के बाद दो-तीन घंटे नींद जरूर ले लेता था। लेकिन अब उसे नींद और गोश्त में से किसी एक को चुनना था।···सँकरी, भँभाती गलियों में लू और धूप से बचता हुआ, एक लावारिश शहरी साँड़ की तरह, वह कूड़े के एक ढेर से दूसरे ढेर को सूँघता हुआ, इधर-उधर भटकता रहा।···किसी पान की दूकान से सुपारी की दो-तीन मुफ्त की डलियाँ, या एक आने की मूँगफली, या मीठे सेव, या काबुली चने···चुगता हुआ अनिद्रा, भय, संताप और भ्रष्टाचार की इस दुनिया से वह मुक्त रहा। कभी-कभी अचानक अपनी परिचित पान-जलेबी, सुर्ती की दूकानों की तरफ से निकलने पर वह सिर नीचा करके बुदबुदाने लगता, या उँगली के पोरों पर एक-दो-तीन-चार, गिनता हुआ आगे निकल जाता। ऐसे में लगता, मानों वह किसी गहन दार्शनिक समस्या से उलझा हुआ है, और उसे इधर-उधर की भीड़ या

परिचितों-अपरिचितों की तरफ देखने की फुर्सत नहीं है। सचाई यह थी कि वह अपने जीजा के नाम पर मुहल्ले की कई दूकानों से उधारी खाये हुए था। इस तरह हनुमान-चालीसा पढ़ता हुआ वह उन मुतही दूकानों से दूर चले आने पर मुक्ति की साँस लेता। उसकी आँखों में धूप खुभने लगती। वह रुककर सुस्ताने लगता। फिर एक बुत की तरह वह, पिघले तारकोलवाली सडकों, मकानों की छतों, लू में हरहराते पेडों या नावदानों के पास लेटे, हाँफते कुत्तों को घूरता रहता। फिर वह एक जगह से उखडकर जगह-जगह, यहाँ-वहाँ, गड जाता··· अचल हो जाता। उसकी आँखें स्थिर हो जाती और बाहर को निकल पडती। तब तक वह फिर काँपकर अपने मृतक होने की सुखद नियति को थोडी देर के लिए इन्कार कर देता, और चलते-चलते आराम के लिए एक सिनेमाघर के खुले पोर्च में घुस जाता।···

पोर्च के एक अँधेरे कोने में उसने जगह ढूँढ ली थी। अंगोछे से चिकनी फर्श पर वह एक-दो बार हवा करके झाड़ लगाता, फिर लेट जाता। बाँह का तकिया बना लेता। फिर कुर्ते की जेब से जरूरत के मुताबिक सपने बाहर निकालता और लीन हो जाता।···'वह सन्यास ले लेगा (दुनियाँ में उसके लिए बहुत जगह है)···गेरुआ पहनकर ले लेगा गुरु-मन्त्र, और चल देगा चिमटा-कमण्डलु उठाकर बाबा काली कमलीवाले के मठ की ओर, (तब ये लोग भी समझेंगे)···वहाँ क्या नहीं है? भण्डार भरा है घी-मैदे, चावल-शक्कर से। सारा भण्डार, सुना है, शुद्ध घी में होता है। हजारों संन्यासी रोज भोजन पाते हैं। अपना परलोक बनेगा···(और इन व्यर्थ की चिन्ताओं से छुटकारा भी मिलेगा···बहुत दिन माया-जाल में फंसे रहे!)···क्या वे लोग जाने को कहेंगे? क्या जीजा भी···? वे लड़कों के साथ सिनेमा देखती हैं, और ये लोग मेरे ही पीछे···। निर्लज्ज···बेह-यार्ं···वहाँ क्या होगा—घर पर? वही मकई की रोटी और आवारा लड़के! अब वह कोई पटवारी तो है नहीं, कि दफा ५६।६१ में इसका खेत उसके नाम, और उसका तीसरे के नाम···या खेमरा की रसीद किसी और को, खतौनी की किसी और को···या सगुन के रुपये, या मुफ्त की बकरे की रान, टेंगर मछलियाँ।··· क्या वे तार मँगा लेंगे (जालसाज!) और उसे जाना ही पड़ेगा?···हिश··· धत्···फुस···फू:···एक छटपटाहट-भरा स्वप्न-प्रलाप···नथुनों में तेजाब की जलती हुई बू।···जीजा जब कुछ नहीं कर सकते तो बनते काहे को हैं? अपना घर तो पहले सँभालें!···ये मक्खियाँ—धत्त साली! इतनी गर्मी में भी ये मर नहीं जाती। वह अंगोछे से पैर की मक्खियाँ उड़ाता···और चिढकर पाँव सिकोड़ लेता···और गुड़ीमुड़ी हो जाता।···पिता···की आँखें···एक थर्राहट···फिर वह करवट बदल-

कर दीवार की ओर मुँह कर लिया। (अब गाम्भा करने को कुछ भी नहीं है। क्या पिता कोई तार भेजेंगे? अब वह क्या बार-बार लिखते हैं कि, 'मेरा बुला आने ही वाला है।'...अगर पिताजी मर गये! वह दीवार की चमकती बूँदं अपनी आँखें गड़ा लेता...अगर मर गये? कैसे वह हरे-हरे बाँस कटवाकर टिकं बनवायेगा? कितनी जल्दी करनी पड़ेगी? कौन-कौन लोग कन्धा देंगे? कं लग्गी लेनी पड़ेगी। बारह दिन तक लगातार जमीन पर सोना पड़ेगा और खोपरे में खाना पड़ेगा। क्या मिलेगा खाने में? दूध-भात? गाँव से चाव मँगाना पड़ेगा। माँ की दफा वहीं से मँगाया गया था...तब से घर में कोई मौ कहाँ हुई? (बच्चों की मौत कोई मौत थोड़ी होती है!) तेरही पर बहुत बड़ा भोज करना होगा। तीनेक-सौ लोग होंगे कुल। कच्ची-पक्की दोनों। कच्ची में फरहरे चावल, कढ़ी, फुलौड़ी-बड़े, दही। पक्की में शुद्ध घी की पूड़ियाँ, दही-चीनी...दो-दो तरकारियाँ...। कटहों के लिए गद्दा-तकिया-चादर, थाली-लोटा-गिलास, पलँग...बहुत तंग करते हैं सब! रुपये? रुपये कहाँ से...? द जीजा भेजेंगे...

'जिज्जा आ...आहाह...आहाह!'...सिनेमाघर के एयर-कूलर हॉल से वहाँ दरवाजे की खिरी से ठण्डी हवा की पतली-सी लहर आती है...फिर खर्राटों का अन्तरा...फिर सम...फिर अन्तरा...फिर सम। मोजेक की फर्श कितनी सख्त है! वह करवट बदलता है। बाँह के तकिये पर से उसका सिर एक ओर लुढ़क जाता है। होठों के कोनों से राल टिघलती हुई, मुटल्ले-से गाल पर एक ओर सरक रही है...। फर्श पर वहीं—होठों के कोने के पास—दो-चार मक्खियाँ चक्कर काट रही हैं।...

हास्यरस

लगभग आधे घण्टे में कारवाई पूरी हो गई और हम लोग रजिस्ट्रार के कमरे से बाहर निकल आये। तीन मित्र जिन्होंने गवाही दी, पत्नी, और मुझे लेकर, हम पाँच लोग हैं। बाहर निकलते ही मैंने अपने को दूसरा और पराजित अनुभव किया। प्रेम समाप्त हो चुका है और यह बात सन्देहजनक नहीं लग रही है कि मैं गलत लड़की से शादी करके निकल रहा हूँ। मैं थोड़ा अलग चलना चाहता हूँ और मैंने ऐसा किया भी, लेकिन यह मुश्किल है कि मैं समझ लूँ कि मेरे अन्दर ठीक-ठीक क्या हो रहा है।

अगर प्रेम से छुटकारा मिल गया है तो इसमें दुःख की कोई बात नहीं है। दरअसल मुझे समझ नहीं आ रहा है कि क्या किया जाय अथवा क्या किया जा सकता है। मेरी पत्नी सन्तुष्ट और निश्चिन्त है और उसके खिले हुए चेहरे से मुझे प्रसन्नता नहीं हो रही है। यह खिला हुआ चेहरा और कुछ नहीं, विजय का गर्व है। यह स्पष्ट हो गया है कि मैं घाटा खा चुका हूँ और मुझे पराजित करनेवाला मेरा साथी तत्काल हर चीज की माँग करने का अधिकारी हो गया है। मैंने अपने को आगाह किया कि आज से यह मेरे पास ही बनी रहेगी, अब और दिनों की तरह तीन घण्टे बाद मूवी देखकर या पिकनिक मनाकर नहीं चली जायेगी।

मुझे अपने ऊपर बहुत खीझ आ रही है और अभी बरामदे का काफी लम्बा हिस्सा

बाकी है। फिर सीढ़ियाँ उतरनी होंगी। रजिस्ट्रार के हाते के बाद कई दूसरी इमारतों का फासला पार करके सड़क तक पहुँचने में न जाने अभी कितनी देर लगेगी।

ऐसी चिन्ता जीवन में मुझे पहली बार हुई है और ऐसा भय। मैं अपने को बड़ा होशियार लगाता था। अब लो। कहीं ऐसा न हो यह चिन्ता मेरे जीवन और मेरी मृत्यु दोनों को बरबाद कर डाले। शायद मैं बहुत ज्यादा घबरा रहा हूँ जिसके कारण चेहरे पर बनावट पैदा करने में मुश्किल हो रही है। ऐसा ही रहा तो सबको पता लग जायेगा। वह मुझसे पीछे बमुश्किल दो मीटर की दूरी पर है और इस फासले को भी कम करने की कोशिश में है। तेज चलकर। देखो गड़बड़ हो गया न अभी से सब कुछ। अन्दर मेरा मन मुझसे कहता है, आपने किया है तो आप ही देखिये, हम क्या करें।

न जाने क्या-से-क्या हो गया। अभी-अभी विवाह होने के पूर्व मुझमें खुशी और तत्परता थी और अब मैं दुःखी हो गया हूँ। कमरे में और कमरे से पहले मैं पूर्व-निर्धारित के अनुसार समय पर पाबंदी के साथ सब कुछ ठीक-ठीक करता रहा, बल्कि छोटे-छोटे तिकड़म भी और सोचने की जरूरत नहीं पड़ी। उस समय कमरे में यहाँ तक कि निष्ठा की छपी हुई शपथ पढ़ते समय मुझे ध्यान है, मैं उसे गूढ़ और प्रभावशाली तरीके से (एक ब्रॉडकास्टर की तरह) पढ़ने का प्रयत्न करता रहा ताकि रजिस्ट्रार और उपस्थित दूसरे लोग प्रभावित हो सकें या उन्हें अच्छा लगे। और अब अजीब बात है, मेरी चटनी बनी जा रही है। पता नहीं क्यों इन दिनों ऐसे भी सुबह में हल्का और प्रसन्न रहता हूँ और शाम होते तक दुःखी और भारी हो जाता हूँ। सुबह जीवन मुट्ठी में रहता है, शाम को चंगुल से बाहर। भगवान जाने क्या-से-क्या हो गया मेरा।

मुझे ख्याल आ रहा है, मेरी पत्नी, जब वह पत्नी नहीं थी, मेरे दिल में थी। वह कभी थमती नहीं थी और हमेशा गेंद की तरह उछलती रहती थी। तभी मैंने कल्पना की कि दिल शरीर का सबसे लचीला हिस्सा है। अभी थोड़ी देर पहले धोखेबाज दिल ने इसी लचीलेपन का पुनः प्रदर्शन किया है।

खैर। उसके बाद वह मेरे दिमाग में चलने लगी। चलने क्या लगी बल्कि दौड़ती भी थी। मैंने उसकी तरफ अभी चुपके से देखा, उसे कुछ भी पता नहीं। उसने मुझे अपने को देखते हुए पकड़ लिया है, फिर भी वह, मैं क्या सोच रहा हूँ यह कभी समझ नहीं सकती। जब वह दिमाग में दौड़ने लगी तो मैंने सोचा अब गोट बैठा लेनी चाहिये। बस यहीं मेरी चूक हो गई। आश्चर्य है, पहले कुछ पता ही नहीं चला। बस इधर रजिस्ट्रार के कमरे से बाहर निकला हूँ और उधर

ाग में महात्मा बुद्ध आकर बैठ गये। पता नहीं इतनी जल्दी आकर क्यों बैठ
महात्मा बुद्ध। मैं कुछ दिन तो इनके साथ मजे में काट लेता। कम-से-कम
पुत्र तो मेरा हो जाता। लेकिन अब निराश होने से क्या होगा। कोई फायदा
।। मुझे कम-से-कम इतनी उम्मीद तो करनी चाहिये कि यह दुर्घटना स्थायी
। होगी और मेरा आगे का जीवन बोधिसत्व से बचा रहेगा।

यह कारी निकट आ गई है। मुझे तब पता चला जब यह सुगन्ध देने
।। घबड़ाओ मत देवी, मैंने सोचा, पास आ जाओ लेकिन अगर मैं अपनी
े से परिचित बना रहा तो कभी-न-कभी तुमसे बदला जरूर लूँगा। तुम
। अब इससे अधिक कोई और नुकसान नहीं कर सकती। बताओ, क्या कर
ी? मेरे दोनों मित्र, जिन्होंने हमारे विवाह में साक्षी दी है, पीछे हैं और बात
रहे हैं। मैंने एक सेकेण्ड में तय कर लिया कि सारा अन्दर का समेटकर अभी
उसकी तरफ देखता हुआ इस तरह मुस्कराऊँगा कि यह गुदगुदी महसूस करेगी
र मान लेगी कि मेरी वास्तविक सच्चाई यही है। दरअस्ल उसे मैं अभी कुछ
[भव होने देना नहीं चाहता। चालाकी की आवश्यकता है। इस वक्त तनहाई
नहीं है और सामाजिक प्रतिष्ठा के बिगड़ जाने का खतरा है।

ी-अभी बरामदा समाप्त हुआ है और हमने सीढ़ियाँ उतरनी शुरू की हैं।
हरों में आमतौर पर हम सरीखे लोगों की आमदरफ्त कम होती है इसलिए
। (कम-से-कम मैं) ऊपरी दयगई के साथ चलते रहे। किसी ने कहीं कोई
हचान नहीं दिखाया। मेरी पत्नी का चेहरा इस तरह का है कि लोग उसे
ड़ा ऐसी-वैसी समझ सकते हैं। इसमें शक नहीं कि लोग अभी भी बहुत सभ्य
और इससे खुशी होती है। मेरा यह सोचना बिल्कुल ठीक है कि भद्रता के
ए फिलहाल किसी तरह का कोई खतरनाक समय नहीं है। हर आदमी को
ज्जत प्यारी होती है।

चे उतरकर हम घास पर खड़े हो गये। ऐसा लगा कि मैं भागता हुआ चल रहा
।। मेरे दोस्त, जो थोड़ा पीछे रह गये थे, अब इकट्ठा हो गये हैं। इनमें से
क व्यक्ति जो सबसे सुन्दर और तेज है, मेरा मित्र नहीं है, परिचित है, मेरे एक
ाने मित्र का मित्र है। यह बड़ी उत्सुकता, ताजगी और सिफारिश के साथ गवाही
ने आया था। असलियत यह थी कि यह अनुभव प्राप्त करना चाहता था।
शेष रूप से इसलिए कि शीघ्र ही उसका इरादा भी इसी तरह से विवाह करने
ा है। मैंने सबको यह बताया, लेकिन जब मैं यह सूचना दे रहा था, उसका
हरा बदल नहीं गया, जैसा पहले था वैसा ही अभी है। कुछ बातचीत करने
े बजाय मेरे दोनों दोस्त उसके चेहरे को घूर रहे हैं या उसके चेहरे पर उसकी

प्रेमिका को खोज रहे हैं। इन दोनों की कल्पना-शक्ति कमजोर है इसलिये
है कि ये कुछ पल में थक जायेंगे और खोजने का प्रयत्न छोड़ देंगे।
मजा तो यह है कि मेरी पत्नी भी उसे देख रही है। देखे जा रही है। इतनी
दृष्टि से, मैं जानता हूँ इसने मुझे भी कभी नहीं देखा। यहाँ तक कि मुआयना
देकर जाने के बाद से लेकर स्कूटर के सड़क के मोड़ पर गुम हो जाने तक
चालाकी से और कभी यूँ ही यानी किसी भी तरह उसे लगातार देखती रही
वह चला जरूर गया है पर देखता हूँ, पत्नी के चेहरे पर उसके प्रभाव का झुका
हुआ असर बना हुआ है। ऐसी स्त्रियों के चरित्र का क्या भरोसा किया जाय
कब किस दूसरे पर फिसल पड़े। फिर भी देखा जायेगा। मुझे काफी सावधानी
बरतनी पड़ेगी।

अब हम केवल चार ही थे और सड़क की तरफ चल रहे थे। मैं इतना
आश्वस्त था कि हम टैक्सी कर लेंगे और किसी हैसियत से अधिकवाले चाय
में नाश्ता भी कर लेंगे, ये मेरे शेष दो मित्र भी अपने-अपने घर चले जायें
लेकिन उसके बाद क्या होगा? उसके बाद क्या कमरे में एक-दूसरे को
देखते हुए हम नित्य बारह घण्टे बैठे रह सकते हैं अथवा क्या हमें खोजने पर
व्यस्त कार्यक्रम मिल जायेगा?

बिस्तरे पर उसके चेहरे की तरफ करवट लेकर मैं नहीं सो सकता। एक तो
कि गन्दी साँस फेफड़ों में जायेगी। अगर थोड़ी देर बाद घर गये, अगर क्या,
हो पड़ेगा तो फिर क्या करेंगे? फिल्म देखने में कुछ घण्टे ही बीतते हैं।
दूसरे शहर जाने का कार्यक्रम बनाया जाय तो कुछ अधिक समय को हल
जा सकता है। उपन्यास पढ़ने की इच्छा नहीं होती। बस कार्टून देखने
इच्छा होती है, बनाने की भी और कभी-कभी बदमाशी करने की। बद
करने का विचार इधर मेरे मन में आया और उधर मैंने अपनी पत्नी की
देखा। मैं पाता हूँ, मेरे अन्दर का यह मानवीय अंश कभी नहीं मरा। दया,
सहानुभूति की एक चिनगी हमेशा जलती रहती है। उसने तो मेरे साथ शत्रुत
चालाकी से काम लिया, मेरी जिन्दगी बरबाद कर दी और मैं हूँ तो उसे देख
हूँ और सुस्त पड़ जाता हूँ। क्या मैं बहुत निम्नकोटि का स्वार्थी हूँ, सुरक्ष
इतना ध्यान रखता हूँ कि किसी से बदला भी नहीं ले सकता।

उसने अब मेरा हाथ पकड़ रखा है और मेरे मित्रों से शरमा नहीं रही है।
मित्र, वे मुझसे अधिक पति नजर आ रहे हैं। मुझको इतने अधिक सा
कपड़े पहनकर नहीं आना चाहिये था। कपड़ों की ही बात नहीं है, मुझे
सूरत पर भी ध्यान देना चाहिये।

समें शक नहीं कि स्थिति बड़ी गंभीर हो गई है। भिन्न और साहसी तरीके से
हने का मेरा सारा ख्वाब चूर-चूर हो गया। अब नये सिरे से पुनर्विचार करना
ड़ेगा। वैसे आसानी से तो ढीला छोड़ नहीं दूँगा अपने को इसके सामने। मैं
मभता हूँ, तरतीब और दिलचस्पी कैसे पैदा की जाय और क्या-क्या किया जाय,
ह प्रश्न मेरे लिए ही है, इसके लिए नहीं। इस समय तो जिंदगी क्या, बिल-
कुल चौबीस घंटे भी सुरसा के मुँह की तरह विराट रूप रहे हैं।
ह कितना दुर्भाग्यपूर्ण है कि मैं भूल गया कि अपनी १६५८ की एक डायरी में
ने स्त्रियों के सम्बन्ध में क्या-क्या लिखा था। वैसे वे बातें बुरे वक्त में लिखी
ई थी। तब, जब पता चला था कि बचपन से प्रेम करनेवाली एक लड़की
काएक गलत हो गई है और तबियत छटक-छटक जा रही है। परन्तु वे बातें
बिल्कुल सच थी और मेरा दावा है कि उन पर अमल किया जा सके तो संसार
में कोई भी व्यक्ति स्त्रियों का शिकार नहीं हो सकता। लेकिन अब मैं क्या करूँ,
१६५८ की डायरी लेकर रोऊँ या सर पटकूँ। उस लड़की ने मुझे कम चोट
नहीं दी थी लेकिन मैं इतना बेहया हो गया हूँ कि हमेशा बीती हुई चीजों को
भूल जाता हूँ। मैं कहता हूं, थोड़ी देर पहले जब मैं अपनी प्रेमिका से विवाह का
कानूनी समझौता कर रहा था तो कोई मुझे बचाने नहीं आया। मुझे समय पर
अपनी डायरी की याद भी नहीं आई। मेरी आत्मा, बड़ी जो मेरी बनती है,
जरा भी नहीं फड़फड़ाई। मेरी बुद्धि को सन्निपात हो गया और ऐन वक्त पर
हो गया।
बड़ी भयानक गल्ती हो गई। कितनी मूर्खता की बात है कि अपने पूर्व अनुभव
से, अपने दिल के दाग से मैंने जरा-भी सबक नहीं लिया। ठोकर खाकर
संभल जाना ही बुद्धिमान आदमी का लक्षण है। अनुभव की कितनी बड़ी बेकदरी
है। कहाँ संसार में एक अनुभव के लिए लोग जीवन-पर्यन्त साहसिक कार्य करते
रहते हैं, वृद्ध हो जाते हैं, बाल पका डालते हैं, और कहाँ मैं!
कुछ दिनों से मैं एक बात और नोट कर रहा हूँ। अक्सर शिखा के चेहरे पर
(मेरी पत्नी का नाम शिखा है) मुझे उसकी छोटी बहन का चेहरा दिखने लगता
है। उसकी बहन का नाम नयना है। उसका चेहरा अंडाकार है, उसकी चमड़ी
नारंगी रंग सरीखी झिलमिलाती है। वह भोली है और सबसे खास बात यह
है कि उसको सुंदर कहते वक्त कोई धक्का नहीं लगता। 'यकीनन वह इससे बेहतर
है, मुझे उसको ही पाना चाहिये था। क्या मुझे ख्याल नहीं, उसने कम-से-कम
दो-तीन बार कहा था, आप हमसे उस तरह कभी नहीं बोलते जैसे शिखा बहन से
बोलते हैं। हाँ, हाँ, ख्याल आ गया। वे जगहें भी याद आ गईं और समय

भी याद आ गया। पर इस सचाई को समय पर गौर न करने की आदी ह
पर अब मैं बेकार भटक रहा हूँ।

लेकिन जीवन में सारे काम क्या मैं इसी तरह जल्दबाजी में ही करता रहूँ
पता नहीं, क्योंकि जहाँ तक सोच-समझकर जो काम करता हूँ, वे भी बस जल्दबाजी में
लगते हैं। एक बार मन में यह भी लगा था कि मृत्यु के आने के पहले जि
भी काम होते हैं, वे सब जल्दबाजी होते हैं। बहुत दिनों तक शायद इसीलि
मारे भय के मैंने कोई काम ही नहीं किया और अब किया भी तो 'कु
कालिदास'।

एक बात और है। यह दिखा के चेहरे में से दूसरा चेहरा निकल आनेवा
स्थिति। अगर चेहरे इसी तरह से बदलते रहेंगे तो कितना खौफनाक……खौ
खौफनाक है। यह कोई चरित्र है। इससे साफ जाहिर है कि मैं एक गंभी
व्यक्ति नहीं बचा और चरित्र-सरीखी दुर्लभ चीज खोकर सड़ रहा हूँ।

लगता है, सारी गड़बड़ियाँ और गलतियाँ मेरे साथ ही हो रही हैं। मैं देखता
हूँ, मेरे किसी भी परिचित का नुकसान नहीं हो रहा है और वे सब चोटी की
तरफ बढ़ते जा रहे हैं।

मेरे एक घनिष्ट मित्र हैं, उन्होंने कुछ महीने पहले इसी कायदे का विवाह लगभ
मेरी ही जैसी प्रेम-प्रक्रिया के बाद किया था। दरअसल मैं चुपके-चुपके प्रेरणा
भी लिया करता हूँ और अपनी शादी की प्रेरणा मैंने उन्हीं से ली थी। पर
उन्हें विवाह के बाद कुछ नहीं हुआ और वे लोग एक अच्छे सहगान की तरह बहुत
प्यारी और आकर्षक बातें करते हैं। अभी भी करते हैं। उनकी शादी होने
के बाद शायद दूसरी ही बार मैं उन लोगों से मिला हूँगा, जब मित्र की श्रीमती
ने मित्र की हुंकारी के साथ कहा था, 'हम बच्चे पैदा नहीं करेंगे,' फिर पति की
तरफ देखकर सुधार किया, 'जल्दी नहीं पैदा करेंगे, दुनिया में बहुत-से महान काम
पड़े हैं, हम लोग करेंगे। अभी तो कुछ दिन हम लोग रुपया इकट्ठा करेंगे ताकि
बाद में किसी गाँव में एक आदर्श स्कूल खोल सकें।' मेरे मित्र-दम्पति
का, गड़गड़ाता हुआ, कितना सुन्दर जीवन है।

ऐसे ही अवसरों पर मुझे घबड़ाहट होने लगती है और अपना डूबता हुआ अन्त
नजर आने लगता है। सोचता ही रह जाता हूँ, मेरे मित्र-दम्पति के हाथ में
जिस तरह दुनिया की लगाम है, उसी तरह मेरे हाथ में भी क्यों नहीं आ जाती?
मेरा जीवन गणितोन्मुखी कला या वेतनमान की तरह विकासवादी क्यों
न हुआ? फिलहाल तो प्रार्थना कर रहा हूँ, हे ईश्वर! महान काम में न सही,
मेरे लिए किसी छोटे-से काम में ही दिलचस्पी पैदा कर दो। लेकिन मुझे कोई

ी काम नहीं सूझता जिसमें व्यस्त हो सकने की गुंजाइश मेरे लिए बची हो।
री पत्नी ने पिंक रंग के किसी कपड़े का चूड़ीदार पाजामा और सैक पहन रखा है। मैं उसे देख रहा हूँ और मेरी तबियत उसे एक बार छूकर देखने की हो रही है। अपने वस्त्रों के लिए कपड़ा उसने मफतलाल मिल्स की रिटेल शॉप से लिया होगा। मैंने उससे जब भी उसके नये कपड़ों की बाबत पूछा है, उसने यही बताया है और कभी हँसी नहीं है। अगर मुझे उम्मीद होती, कम-से-कम इस बार वह हँस देगी तो मैं उससे पूछता कि यह कपड़ा उसने कहाँ से लिया है। यह बात मात्र सयोगजनक नहीं है। यह संकुचित जातीयता की बू देती है। मेरी पत्नी मफतलाल मिल्स के मालिकों की जाति की ही है। उसका बाप ऐसा करता था तो मेरा उससे क्या ताल्लुक। लेकिन वह भी ऐसा ही करती है यह ओछी बात है।
तो क्या अपनी पत्नी से मेरा ताल्लुक इस हद तक बढ़ता जा रहा है। अंदर बिलकुल दूसरी चीजें काम कर रही हैं और मुझे धोखा दे रही हैं। बाद में बहुत पछताना पड़ सकता है। अब मुझे सब कुछ अन्तिम रूप में समझ लेना चाहिये।
'सुनो, क्या सोच रहे हो ? इतनी देर हुई कुछ बोलते भी नहीं,' उसने मुझसे पूछा और मेरे विचार को रोक दिया।
'सुन्दर लड़की,' कहने में मुझसे देर नहीं हुई।
'नहीं, झूठ बोलते हो,' उसने टटोला।
'नहीं भाई ऽऽ।'
'पर तुम हमेशा मेरे बारे में ही क्यों सोचते रहते हो ? तुम्हें अभी कितना ऊँचा उठना है, मेरी चिंता करोगे तो क्या खाक महान बनोगे।'
'लेकिन तुम अच्छी तरह जानती हो, ससार के सभी महान बननेवाले व्यक्तियों के पीछे स्त्रियाँ रही हैं।'
अरे, वह चलती हुई मेरे बाँये हाथ पर लगभग झूल-सी गई। शायद उसे प्यार आ गया है। उसने एक बहुत गहरी ठंडी साँस ली और कहा, 'मगर तुम्हारे चारों तरफ कितनी मुसीबतें हैं।'
गनीमत है, मेरा चेहरा गंभीर नहीं हो गया है। गंभीर हो जाने पर मेरा चेहरा पुराना और टूटा हुआ लगता है। यह एक उम्मीदजनक स्थिति है। मैंने सोचा, वह नीचे देख रही है, यही मौका है, मुझे जम्हाई आ रही है और मैं उसे ले लूँ। पर मैंने अपने को समझाया, यह बोरियत उगलने का मौका नहीं है महाशय ! जरा डरो, तुम्हें अभी यह प्रश्न सता रहा था और ठीक सता रहा

था कि अब क्या किया जाय ? इसके बाद मुझे जम्हाई नहीं आई और मैंने
छोटी-सी सीटी हवा में फूंक दी। क्यों, मैं नहीं जानता।
मेरे सीटी बजाते ही वह उखड़ गई। वह मुझसे अलग हो गई। उसने
मित्रों की तरफ देखा और गंभीर चेहरा बनाकर कहा, 'यह क्या हरकत है
आप देख रहे हैं, यहाँ आस-पास कितने लोग हैं।'
मैं यह अच्छी तरह समझता हूँ, वह अपने को विज्ञापित कर रही है और
सीटी फूंकने पर सचमुच नाराज नहीं है। मैंने उससे मौन पद्धति से पू
'क्यों बन्नो, लज्जित क्यों हो तुम, झूठा गुस्सा दिखाती हो, जरा आगे दे
क्या होता है, न तुम्हारी मर्जी पूरी कर दी तो कहना !'
लेकिन यह सब ठीक नहीं है। मेरा दिमाग विकारग्रस्त होता जा रहा है
मुझे एक अतिरिक्त चिन्ता होने लगी, यह लगी मुझे प्रतिक्रियावादी और पतनो
बनाने में मदद दे रही है। यह संदेहजनक है कि मैं कभी समाजवादी स
किया जा सकूँगा या नहीं।
मुझे अपने इस प्रकार के जीवन से सावधान हो जाना चाहिये। अगर मैं कि
से बदला लेने के चक्कर में लगा रहा, तो हो सकता है मैं एक सुविधाभाव बनक
रह जाऊँ और मेरी पत्नी को चाँप लेनेवाला एक अनन्य प्रेमी मिल जाए।
उफ, मेरे मन में शक भी बैठा जा रहा है। कुछ ही दिन पहले की बात होगी
जब दिन निहायत अच्छे थे, जिन्दगी बड़े लुत्फ में थी, मुझे 'पैरामोर' शब्द बड़
लय-भरा लगता था। मैं यह चाहता था, शीघ्र वह समय आये जब मैं कुछ लोगों
से अपने लिए इस शब्द का सम्बोधन प्राप्त करूँ। और अभी कम-से-कम दो
बार तो मैं इस शब्द को दोहरा ही चुका हूँगा और लय है कि नदारत।
यह तय है कि कोई बहुत बड़ी गड़बड़ी मेरे अन्दर घुस गई है। जिन्दगी ए
बिगड़ैल घोड़े की तरह दुलत्ती मारने लगी है जब कि दुनिया में कहीं कोई गड़ब
नहीं दिखाई पड़ती और वह बिलकुल ठीक हमेशा की तरह चल रही है। बेहतर
कि मैं भी एक सीधा-सादा रास्ता पकड़ लूँ। अपनी पत्नी का मजाक उड़ाने य
उससे बदला लेने से क्या फायदा, सिवाय दूसरों को तमाशा दिखाने के। अच्छी
खासी दुनिया है, लोग मेहनत कर रहे हैं, बैंक जा रहे हैं, फूल खिल रहे हैं, माता
सुस्वादु पकवान बना रही हैं। आदमी के सम्बन्ध में सोचना कितना रोमांचकारी
है। मेरे रोयें खड़े हो गये। मैं समझता हूँ, अगर मैं थोड़ा भी अपने को संयमि
कर लूँ तो सन्देह नहीं, दुनिया बड़ी दिलचस्प साबित होगी।
मैंने पाया, पल भर में मेरा हौसला बढ़ गया और संकल्प-शक्ति जागृत होने लगी
मुझे भी दुनिया को पटाना चाहिये। वैसे मेरा दिमाग बिलकुल सफाचट औ

हल्का-फुल्का नहीं हो गया है और यह बात मेरे ध्यान में है कि रजिस्ट्रार के कमरे से बाहर निकलकर ऐसा नहीं लगा कि कोई नतीजा निकला हो। नतीजा ही निकलता है। और नतीजा नहीं निकला।

फिर भी मुझे गलत स्त्री की हताशा और गुत्थी सुलझाने की बेचैनी फिलहाल नहीं लग रही है। लेकिन वह अब बहुत आसानी से गर्भ धारण कर सकती है। मैंने पत्नी के पूरे शरीर को एक पति की तरह प्रेम, अधिकार और चालाकी से देखते हुए केवल उसके पेडू को देखा। पहले उसका पेडू कुछ थुलथुल था और यह बात मैंने उससे कह भी दी थी। शायद इस बात को चुपके से उसने अपने अन्दर गम्भीरतापूर्वक रख लिया था और उसी शाम से कत्थक नाचना शुरू कर दिया।

उसकी देह इस वक्त अच्छी लग रही है। तरो-ताजा। पेट के नीचे का हिस्सा अनुपात से पिचका लग रहा है। वह मेरे साथ बाँये चल रही है। बाँया स्थान उसका हमेशा बना रहेगा। इस समय मुझे सिलसिलेवार वे सभी परिचित और रहस्य दोस्त याद आ रहे हैं जो पिकनिक, भोजन और घरेलू समारोहों में मुझ अकेले अविवाहित को निमंत्रित करके दया दिखाते और अपनी उदारता का परिचय देते हैं। मैं ऐसे सब लोगों के घर जाऊँगा और अपनी स्त्री दिखाऊँगा।

वह मेरे साथ बिलकुल ठीक चल रही है। हर मिनट दो मिनट बाद देह घुमाती हुई। मजा आया यह सोचकर कि हम दोनों जो साथ-साथ चल रहे हैं, 'अ-आ' सरीखे हैं। और इसलिए चल रहे हैं कि यह नियम है, 'अ-आ' साथ रहते हैं। न चाहते हुए भी तबियत मचल गई, इच्छा हुई 'अ' की हैसियत से पुकारूँ, 'आ', 'आ ऽऽऽऽ', लेकिन मैंने बहुत बैठी हुई आवाज में धीरे से कहा, 'आ ऽऽ'। वह तपाक से बोली (मुझे यही डर था), 'हटो, पागल हो गये हो क्या ?' इसको मैंने हमेशा देखा है, कभी हँसी के मूड में नहीं रहेगी। अफसोस हुआ, क्यों कहा था, जबकि मुँह से बाहर निकलते ही वह बेहूदा हो गया। फिर भी मैंने अपने से अपने लिए मौन मुखर एक टुकड़ा कहा, 'वाह रे मैं ! वाह !'

कचहरी का हाता चलकर खत्म करने के बाद बाहर हम लोग अपने-आप खड़े हो गये। हमें स्वाभाविक रूप से सवारी का इन्तजार है। धूप ढल रही है। सड़क के किनारों पर कारपोरेशन ने पोटलिका लगाया हुआ है। बेन्चें गाढे हरे रंग से पुती हुई हैं। महिलाओं के लिये अलग हैं, पुरुषों के लिये अलग, उन पर ऐसा लिखा हुआ है। और बहुत-सी चीजें दिखाई दे रही हैं। यहाँ खड़े-खड़े एक फेहरिस्त बनाई जा सकती है। मेरी पत्नी एक बार कचहरी की इमारत

को पीछे घूमकर देखने के बाद कह रही है, 'यहाँ कितना अच्छा लगता है, क
(रे, कोमल !), अब जल्दी कोई सवारी ले लो ।' मैं समझता हूँ, जितना जल्
नहीं है कि हम लोग सवारी की ही प्रतीक्षा कर रहे हैं । फिर भी । उ
पर्स में ज्यादा-से-ज्यादा एक रूमाल, एक [illegible], एक आइना, कुछ
लिप्स और एक काली पेंसिल होगी । सोचता हूँ, कहीं मैं उससे कह न
'घबराओ मत, आज तो टैक्सी में चलेंगे रानी-जी', और वह मेरी बाँह प
जायेगी ।

मैं चाहता हूँ, अब तुरंत टैक्सी मिल जाय, क्योंकि मेरे दोनों मित्र सम्भवतः
रहे हैं । कुँवारे लोग दूसरे की बीवी देखकर लालची और ईर्ष्यालु भी हो
हैं । मुमकिन है, इस बीच वे हमारे ऊपर अचानक भी टूट पड़े हों । मैं
चाहता कि यह सब हो । मैं अपनी पत्नी को छोड़कर उन लोगों के साथ हो लि
जो हटकर खड़े थे और उनसे पूछा, 'कहाँ चलें चाय के लिये ?'

'चलिये, एक महत्वपूर्ण काम निर्विघ्न समाप्त हो गया,' मेरे साथी के चेह
लगता था वह काफी देर से बोलने को उत्सुक था और अवसर की ताक में थ
'शायद तुम अंदाज न करो, तुम लोगों ने एक बहुत ही क्रांतिकारी काम में स
लता हासिल की है । शिवाजी ने भी कम हिम्मत नहीं दिखाई, जाति
रूढ़ियाँ इसी तरह टूटेंगी ।' मैं उसको देखता ही रह गया, हालाँकि मूर्
आदमी की तरह नहीं—एक शिष्ट व्यक्ति की तरह मैंने उसे देखा । मेरा दू
साथी बहुत शरमा रहा है । यह बहुत बदमाश है । केवल लड़कियों के सा
शरमाता है । उसने मेरे मित्र की बात पर, कि मैंने क्रांतिकारी काम किया
नजर झुका ली और जाहिर किया, 'हाँ, हाँ, ये सही कह रहे हैं ।'

मैं नहीं चाहता, मेरे लिये हस्ताक्षर करनेवाला मेरा यह साथी और कुछ कह स
एक बार मुँह खुल गया तो वह बहुत-कुछ कह सकता है । यद्यपि मैं उसकी गं
रता और आत्मीयता को तत्काल नहीं रोक सका । उसने कुछ और अभिनन्दन
शब्दावलियों का प्रयोग किया । ऐसा लगा कि वह चाहता है, ये अभिनन्दन
शब्द किसी और के मुँह से (काश !) अपने लिये भी सुन पाता । मेरे
दोस्त की भी एक बहुत करुण कहानी है । इसकी एक चचेरी मौसी थी
इससे प्रेम करती थी । उसकी शादी कहीं और हो गई । फिर वह ससुराल
एक दिन छत से कूद पड़ी । वह झूठी प्रेमिका नहीं थी और स्वाभाविक है उ
जुदाई का गम सहा न जाता रहा होगा । विधाता की लीला देखिये, वह छ
से गिरकर भी मरी नहीं, बस एक टाँग टूट गई । इसके बाद एक लम्बा कि
है । बाद में वह नर्स बन गई और इन दिनों मानव-सेवा का जीवन बिता र

मेरा मित्र शारीरिक रूप से स्वस्थ है और उसकी चचेरी मौसी अब केवल
...ार लोगों से ही सम्पर्क रखती है। मैंने अपने जीवन में प्रेम का, व्यक्ति में
...ाज में विकास पहली बार देखा। वैसे सुना और पढ़ा था।

...अपनी पत्नी को देखा और फिर सोचा, जो भी हो, मेरा यह साथी एक
...ग्यशाली स्थिति का सामना कर रहा है। इस स्थिति में जितनी दुर्घटना है,
...ीद है, वह कुछ और समय में समाप्त हो जायेगी। औद्योगिक शहर में
...ह ज्यादा अर्से तक टूटा नहीं रह पाता, बशर्ते कि मेरा साथी नियमित रूप से
...ब न पीने लगे और मोर्चाबंदी न कर ले कि देखें कौन मेरा दिल जोड़ता है।

...यघर में आने के बाद मैं बहुत उदास हो गया हूँ। मुझे भय लग रहा है कि
...ा सब चीजें शुरू होनेवाली हैं और मेरी तोप जिंदगी का क्या होगा। वैसे मैं
...सा के साथ इस जगह कई बार आ चुका हूँ और मुझे खुशी होनी चाहिए कि
...ज भी आया हूँ। पहले जब यहाँ हम लोग आते थे, किसी गुप्त जगह मिलने
...-सा मजा आता था। आज नहीं आ रहा है। नियत समय पर जब वह
...क घड़ी के मुताबिक पहुँच जाती थी तो आश्चर्य होता था कि ऐसा भी हो
...कता है। आज चेहरा बार-बार उठाने के बावजूद लटका जा रहा है। सोचता
... थोड़ी देर के लिये टॉयलेट में चला जाऊँ। अब ऐसा हो गया है कि अन्दरूनी
...रस्थितियाँ बाहर आसानी से परिलक्षित होने लगी है, यह जानते हुए भी कि
...संसार में बुद्धिमान लोग हमेशा आसपास उपस्थित रहते है।

...यह जानता हूँ, मेरे ये दोनों साथी भी अभी चले जायेंगे और मैं अकेला रह
...ऊँगा। रेस्त्राँ में घुसते समय मैंने सोचा था, टेबुल के नीचे अपने पैर से पत्नी
...पैर सहलाऊँगा। लेकिन इस छोटे से काम से भी मेरा मन उचट गया। पहले
... इससे कितनी हसीन बातें किया करता था। उधर परदे पर फिल्म चलती
...हती थी, इधर बातें। रेस्त्राँ में, सड़क पर, बस में, टेलीफोन पर, बरामदों में,
...ौर बातें कभी खत्म नहीं हुईं। और इस वक्त मैं कब से कोशिश कर रहा हूँ,
...क भी वाक्य नहीं बन पा रहा है। पता नहीं, कहाँ भाग गये सारे-के-सारे
...मणीक शब्दों के प्रेम-परक वाक्य-विन्यास। केवल सन्नाटा है।

...िशा को शायद भूख लग आई है, क्योंकि न तो वह पैसों का ख्याल कर रही है
...ौर न अपने ताजा-ताजा पत्नी हो चुकने का। लेकिन अब मुझे याद आया, इस
...ेचारी ने आज सुबह भी कुछ नहीं खाया था। ठीक है, ठीक है, और कुछ
...ंगा लो—मैंने मन में कहा। ज्यूक बॉक्स चीख रहा है। मुझे अपनी कृपालु
...ूतपूर्व प्रेमिका याद आ रही है। वैसे सबसे ज्यादा मुझे अपने शहर की और
...ाँ की याद आ रही है। मेरा दोस्त मुझसे कह रहा है, 'तुम तो कुछ खा ही

नहीं रहे हो, यार।'

'क्या बात है?' शिखा ने छुरी-काँटा छोड़ दिया, 'तुम अपने दुश्मन की तबियत तो ठीक है न? अच्छा, चलो, कमरे पर चलते हैं।'

'नहीं, नहीं, कमरे पर अभी नहीं,' कमरे के नाम पर मैं एकदम घ- गया। 'कोई खास बात नहीं, सर में हल्का-सा दर्द है,' मैंने बहाना किया।

'सैरिडॉन लोगे?' उसने शीघ्र ही पर्स से टैबलेट्स निकाल लीं। 'कैसे तुमने तो कुछ खाया भी नहीं', सकपकाते हुए परेशानी के साथ उसने फि- अनुरोध किया। मैंने अनमनेपन में उसकी बायीं जाँघ पर अपना दाहिना फैलाकर बहुत हल्का-सा पटाखा बजाया और एक बार रेस्त्राँ का हॉल देखा। दृष्टि में एक अजीब-सी सावधानी थी जैसे मैं आसपास किसी फोटोग्राफ- उपस्थिति महसूस कर रहा हूँ। उसके हाथ की उँगलियों में सैरिडॉन फँसी कर मुझे हँसी आ गई है। वह भी मुस्कुरा रही है, शायद यह समझकर कि जान गया हूँ, यह सैरिडॉन उसने अपने 'तकलीफ के दिनों' के लिए एहतियातन छोड़ी होगी जो मेरी तकलीफ के समय में काम आ रही है। मेरे बा- ने भी दो-एक पल ठिठककर हमारा प्रेम-व्यापार देखा। अब सिगरेट रहे हैं।

सैरिडॉन लेकर मैं अपने लिए ताजी कॉफी बनाने लगा हूँ। अभी अन्तराल थोड़ी ही देर में ज्यूक बॉक्स फिर शुरू होगा। शिखा रूमाल से मुँह पोंछ है। मेरा एक मित्र पेशाब करने के लिए कुर्सी से उठा है। दरवाजे से एक फ- बार अंदर आ रहा है, आया जा चुका है।

गिरिराज किशोर

रिश्ता

नकी ने गैरिज का दरवाजा खोला। टिन का था, काफी आवाज हुई। दाहिने
थ चूल्हा था। अधबुझे कोयले थे। चूल्हे के चारों ओर एक छोटा-सा
भा-मण्डल' बना हुआ था। अन्दर आकर मनकी ने कुण्डी चढा ली। सामने
ी ओर देखते हुए बोली, 'सो गया रे···?'

ा ऽऽ हीं तो···' लेटा हुआ लड़का उठ बैठा।

रोटी बना ली?'

डके ने अलसाये स्वर में कहा, 'बना ऽऽ ली।' आगे बढते हुए मनकी का पाँव
तीलो से टकरा गया। तुरन्त बोली, 'तुझे कब अकल आयेगी रे, पतीली बीच
ी में डाल रखी है।'

दीया जला दूँ, माँ?'

जला दे ना, पूछ क्या रहा है।' मनकी भच्च से जमीन पर बैठ गई। लड़के ने
िया जला दिया। कमरा चौड़ा हो गया। मनकी ने बेटे की तरफ देखा।
म्बा बाँस-सा, पाहुँचा फटा-सा जाँघिया पहने खड़ा था। मनकी ने उस पर
जर डाली। जाँघिये के बीचो-बीच नजर टिक गई। मुस्कराकर बोली,
कमबख्त, इसे ढक तो लिया कर, बोतल-सी लटकाये घूमता रहता है।' उसने
मीन में पड़ी अपनी माँ की काली-कीचट धोती उठाकर लपेट ली, बोला,

'बस !'
मनकी हँस दी, 'पूरा मरद हो गया, मरद भी माँ को ही खाना पहले''
रखना चाहिए, क्यों उजाड़ना !'
लड़के ने धीरे से पूछा, 'रोटी दे दूँ ?'
'यह भी कोई पूछने की बात है, आँत सूख गई···ला जल्दी।'
मैले कपड़े में लिपटी रोटियाँ ताक में से लाकर माँ के सामने रख दीं।
लग जाने से तिरछी पतीली भी सीधी करके सामने रख दी। माँ ने उस
सी रोशनी में पतीली के अन्दर झाँककर देखना चाहा। धीरे बोली, 'हूँ
दा ऽऽ ली दीखे···।'
लड़का चुपचाप बैठा रहा। मनकी ने अपने पल्ले से मिठाई की दो-तीन
निकालकर रोटियों पर रख ली। रोटी की पोटी बनाकर, कुतुर-कुतुरकर
के साथ खाती रही। कभी-कभी दाल से भी लगा लेती थी। लड़का
वर उसके मुँह की ओर देख रहा था। थोड़ी देर बाद बोला, 'माँ, तूने दा
खाई नहीं, मैंने तो दाल तेरे मारे कम ली थी !'
मुँह का टुकड़ा निगलकर मनकी बोली, 'क्या खाऊँ, इसमें हल्दी तक तो
नहीं, मुझे घास-पात अच्छा नहीं लगता। वो तो डाक्टराइन के नौकर
लड्डू दे दिये थे, काम चल गया।' बचा हुआ लड्डू मुँह में रखते हुए
को झिझकी, फिर रख गई। लोटे से गटर-गटर पानी पीकर हँसते हुए
'डाक्टराइन बाहर गई है, वो साला खूब खिलाता-पिलाता है···'
उठते समय जोर से डकार ली। बन्द दरवाजे के पास बैठकर हाथ धोये।
बैठे वहीं पेशाब कर दिया। लड़का लेट गया था। मनकी ने अपनी
निकालकर खूँटी पर टाँग दी, फटा हुआ-सा ढीला-ढाला ब्लाउज भी उ
धोती के ऊपर रख दिया। कुछ देर तक दोनों हाथों से अपनी छाती
रही। बाद में कपड़ा ओढ़कर लेट गई।
'अरे गिरधारी, दीया तो बुझाया ही नहीं, जरा बुझा दे।'
गिरधारी कुछ देर बाद उठा। फूँक मारकर दीया बुझा दिया। मनकी ने
टोका, 'अरे कमबख्त, फूँक मारकर बुझाते हैं कहीं···कुछ तो अकल सी
नहीं तो धक्के खाता फिरेगा।'···गिरधारी बिना कुछ जवाब दिये चुपचाप
लेट गया। चूल्हे के कोयले बुझने लगे थे। सामने बिजली का खंभा
उसकी रोशनी किवाड़ों के नीचे से होकर अन्दर पहुँच रही थी। जिस स्थ
मनकी ने हाथ धोकर पेशाब किया था, अभी भी गीला था।
—'माँ, क्या हुआ ?' गिरधारी ने हठात् पूछा। मनकी चौंक-सी गई,

है का ?'

गि···रामतीरथ का ?'

की हँस दी, 'अरे, उसका क्या होना था, मैं ही तैयार नहीं। कहता है, तेरे ने बड़े लड़के को नहीं रखूँगा।' गिरधारी चुप हो गया। कुछ देर बाद की ने ही कहा, 'मैंने तो कह दिया, ता आ, मुझे और बहुत···।'

र तू उनके साथ नहीं रहेगी···?' गिरधारी के स्वर में उत्सुकता थी।

येगा कहाँ हरामी, फिर आयेगा।' मनकी जोर-जोर से हँसने लगी। उजाला के अँधेरे में मनकी का हँसना टिकना-सा लगा। हँस-हँसाकर मनकी चुप गई।

रधारी ने फिर धीरे से पूछा, 'कल तू चाँदी की तगड़ी का जिकर कर ी थी ना ?'

देगा तो देगा, सवा सौ कमाता है हर महीने। कल को मर गया, अपना धन छाती तले रहेगा। तेरा बाप मरा, बरतन मलती घूम रही हूँ···सब खा-पीकर उजर कर देता था।'···हँसकर बोली, 'चाँदी की तगड़ी तो बुड्ढा भी देने को ार है। पर रामतीरथ जवान है···।' मनकी की हँसी रोके नहीं रुक रही ी। उसका इस तरह हँसना चौकन्ना उत्पन्न कर रहा था।

ौन बुड्ढा ?'

नकी का हँसना फिर चालू हो गया। बड़ी मुश्किल से बता पाई, 'अरे वही, क्टराइन का नौकर यारू, कबर में पैर लटका रखे हैं ···दुबारा विधवा करने के कर में है, हरामी! उससे तो मैंने सोने की तगड़ी माँगी है।'

: दे तो अच्छा है।' गिरधारी के कहने में अर्थहीनता अधिक थी।

ड़ा आया देनेवाला, पाँच तोले की भी बनवानी पड़ गई, लिद्दाम हो जायेगा, ाला।' गिरधारी चुप हो गया। मनकी थोड़ी देर तो दाँत फाड़ती रही, र वह भी चुप हो गई। दूसरी तरफ करवट बदली, तो गिरधारी ने पूछा, माँ, तू सो गई ?'

नहीं।'

ुछ ठहरकर गिरधारी ने अपनी बात कही, 'वो रामतीरथ मुझे नहीं रखना ाहता ?'

नकी उसकी ओर पलट गई। अँधेरे में अपने बेटे की शकल देखने की कोशिश ी, वह चुपचाप लेटा था। समझाने के ढंग में बोली, 'उस ससुरे के भी तो ीन बच्चे हैं, कहता है, तेरा बेटा इतना बड़ा तो हो गया, कब तक उसकी सँभाल रती रहेगी। तू मर जायेगी, तब कौन करने आयेगा ?'

गिरधारी ने धीरे से 'हूँ' करके कहा, 'सो माँ, तू भी सो जा ।'
मनकी काफी देर तक खामोश लेटी रही । फिर धीरे से पुकारा, 'गिरधारी,
लग रही होगी···पास को सरक आ, बेटा ।'
गिरधारी खिसक आया । नजदीक खींचकर, पीठ पर हाथ फेरते हुए कहा, '
घर में बैठ जाने से तुझे कलकत्ता-दिल्ली में नौकरी मिल जायेगी, ब्याह-काज भी
जायेगा । एक कलमुँही के साथ तुझे कौन पूछेगा !' कुछ रुककर कहा '
कचहरी में उससे तय कर लूँगी । बाद में रोटी पे बुलाया है, रामतीरथ
आयेगा । तू भी डाक्टराइन के घर आ जाना, नहीं खाना ।'
गिरधारी ने भयभीत स्वर में पूछा, 'डाक्टराइन ?'
'अरे वो तो चार-पाँच रोज से दौरे पर गई है ।'
गिरधारी पूछते हुए झिझक रहा था, 'बुड्ढे ने रामतीरथ को भी बुलाया है !'
'रामतीरथ बुड्ढे का ही दोस्त तो है, वह कहता है, या तो मेरे घर में र
रामतीरथ के, दोनों की मिली-भगत है···' मनकी हँसने लगी ।
गिरधारी सरककर अपनी जगह पर चला गया । मनकी ने करवट बदल ली
थोड़ी देर बाद उसकी नाक बजने लगी । गिरधारी चुपचाप उठा, दरवाजे
कुंडी खोली । कुंडी टीन के किवाड़ से टकराकर टन्न से बोली । मनकी ने
में ही पूछा, 'क्या है ?'
'कुछ नहीं, पिसाब करने जा रहा था ।'
'यहीं बैठ के मूत ले ना, बाहर कहाँ जायेगा ।'
गिरधारी ने कहा, 'अच्छा ।' पहले वहीं बैठने को हुआ, फिर बाहर चला ग
खड़े होकर पेशाब करते समय वह एकटक आसमान की तरफ देख रहा
बाद में भी कुछ देर वहीं खड़ा रहा । लौटते समय कुण्डी खड़कने पर भी म
नहीं जागी ।

*

गिरधारी डाक्टराइन के घर पहुँचा । घर चारों ओर से बन्द था । सब
चक्कर लगाकर वह पिछले दरवाजे के पास बैठ गया । अन्दर से मिली-जुली आ
आ रही थीं । उसने कान लगाकर सुनना चाहा । मनकी की आवाज थी,
सारा मजा पहले ही लूटे ले रहा है···पहले करार कर ।'
गिरधारी ने कान के बजाय, आँख दरार में लगा दी । माँ नंगी लेटी थी ।
बार आँख हटाकर इधर-उधर देखा, दुबारा फिर अन्दर झाँकने लगा । कुछ
तक गिरधारी का शरीर थरथराता रहा । एक हाथ टाँगों के बीच देकर
उकड़ूँ बैठ गया ।

रतीरथ मनकी से चिपटा हुआ था। बूढ़ा खड़ा उन दोनों को गौर से देख रहा ।। एकाएक मनकी ने रामतीरथ को ढकेल दिया। उसका कहना जारी था, रियत मंजूर हो तो आगे बढ़...'

ही हुई मनकी आधी उठ गई। मुस्कराकर बोली, 'दोनों बातें होंगी...तगड़ी तू ...ला दे या...' बारू की तरफ देखकर मुस्कराई, 'तुम दोनों मिलकर। इस ...रे बारू को क्यों हलाल करता है, इसके बस का क्या है...कुगाई तो तेरी खूँगी।'

...एक झटके में सीधा होकर झपटता हुआ आया, नमरजाद नंगा हो गया। या कहती है, मेरे बस का कुछ नहीं...ले देख।' वह मनकी से चिपट गया। ते तरह हाँफने लगा। मनकी बारू के सिर पर हाथ फेर-फेरकर हँसने लगी। ...रमारी के होंठ भी हल्के से फैल गये। रामतीरथ खड़ा था। नंगेपन ने उसे एकदम ...ल दिया था। रामतीरथ ने बारू को हटाना चाहा, उसने मनकी को बच्चे की ह कसकर पकड़ लिया। एक जोर के झटके के साथ बारू दूसरी तरफ लुढ़क ...ा। जमीन पर गिरने से बारू की साँस उखड़ गयी।

...मतीरथ मनकी से चिपटने की कोशिश कर रहा था। मनकी ने एक के ऊपर ...सरी टाँग रखकर बस की।

...नकी ने उसी स्थिति में लेटे-लेटे कहा, 'पहले बात तय कर, मुझे दूसरा आदमी ...ल रहा है, डेढ़ सेर की तगड़ी देगा। तेरे से प्यार-मोहब्बत है, इसलिए सेर ...र की माँग रही हूँ।' हँसकर बोली, 'मेरी बकरी को तो खून चाहिए, तू नही ...गा भाई-बन्द सही, मैं डाक्टराइन नहीं...दबाकर रखूँ।'

...मतीरथ उसकी बातों की ओर बिल्कुल ध्यान नहीं दे रहा था। घुटनों के बल ...ठकर उसकी टाँगें एक-दूसरी से अलग करने का प्रयत्न कर रहा था। कभी-कभी ...ाँखों में खुशामद का भाव लाकर मनकी की ओर देख लेता था। चेहरे का ...ाव धीरे-धीरे बढ़ रहा था। बारू उठकर खड़ा हो गया। उसका नंगापन ...न दोनों के नंगेपन से बहुत भिन्न था।

...रामतीरथ के काफी जोर आजमायश कर लेने पर मनकी हँस दी, 'तूने क्या मुझे ...हरी समझ रखा है, हमारे पास यही दो टाँगें हैं...ताला है न चाबी। बता, ...ैयार है?' बारू उसी नंगी हालत में उन दोनों के पास आकर खड़ा हो गया। ...ुककर कुछ देखने लगा। रामतीरथ ने कहा 'तू जा यहाँ से। तेरे किये-धरे तो ...ुछ हुआ नहीं।'

...ारू बिगड़कर बोला, 'साले, नीच, उल्लू, अखाड़ा मचा रखा है। तू तो जवान है, ...रे से ही क्या...बाल टेढ़ा हो गया। निकलो यहाँ से, नहीं तो मैं दरवाजा खोलता

हूँ ।' और एक-एक शब्द बड़ी मुश्किल से कह पा रहा था । [illegible]
भी बकता जा रहा था, 'किसी का भी कुछ बिगड़ेगा नहीं, मेरी नौकरी
जाएगी । ये साली, हरामजादी, छिनाल !' मुँह से [illegible] ।
मनकी ने बाहर की तरफ देखकर [illegible] कहा, 'चुप कर,…[illegible]
है ।' फिर रामतीरथ से बोली, 'अरी ओह, गिरधारी आता होगा । मैं
कपड़े पहनूँ ।' रामतीरथ के हाथ मनकी की जाँघ पर [illegible] पड़े
आँखें झुकने लगी थीं । वह डरा होता जा रहा था ।
उसने धीरे से कहा, 'गिरधारी को क्या कहूँगा…।' गिरधारी इसी
देखने लगा ।
मनकी ने तुरन्त पूछा, 'और तनखा ?'
रामतीरथ ने रुआँसा होकर कहा, 'जानिए, कुछ तो लोन, छोटे-छोटे
हैं । घरवाली मरी थी, उसी का कर्जा नहीं उतारा ।' रामतीरथ का
लटकने लगा था ।
'तू जान…!' मनकी उठकर बैठ गई । उसका मुँह रामतीरथ के मुँह के
आ गया । रामतीरथ ने एक बार उसकी ओर देखा, फिर बैठी हुई मनकी
ऊपरी भाग को दोनों बाँहों में कस लिया । मनकी ने पीठ पीछे कि
हाथों से रामतीरथ को पीछे ठेलते हुए कहा, 'मुफ्ती-मुफ्ती इज्जत लेना
है । मेरा बच्चा नहीं, तेरे ही बच्चे हैं ! हट परे !'
रामतीरथ ने जोर-जबरदस्ती करनी चाही । मनकी तुरन्त बोली, 'हटता है
शोर मचाऊँ ! मेरा बचा कमअक्ला है तो उसे जहर दे दूँ, उसके आगे-पीछे
न सोचूँ ?'
गिरधारी बन्द दरवाजे के अन्दर घुसा जा रहा था । उसका चेहरा खिंच
था । बराबरवाले घर की कुंडी खुलने की आवाज सुनकर गिरधारी स
गया । दरार पर से नजर हटाकर इधर-उधर देखने लगा । अपने-आपको
कोने में इकट्ठा कर लिया । घर से एक महिला निकल रही थी । गिरधा
कोने में सिकुड़ा देखकर, पास चली आई । बिल्कुल सिर पर खड़े होकर
'यहाँ क्यों बैठा है ?'
गिरधारी ने हकलाते हुए कहा, 'मेरी माँ अन्दर है ।'
'कौन माँ ?'
'यहाँ बरतन माँजती है ।'
'मनकी ?'
'जी ।'

महिला नाराज हो गई, 'तो यहाँ से क्या ताक-झाँक कर रहा है, दरवाजा क्यों नहीं खुलवाता?' वह डरा हुआ-सा उसी तरह बैठा रहा।

महिला फिर बोली, 'अरे बैठा क्या है, दरवाजा खटखटा। डाक्टर गई हुई है...घर में चोरी हो गई तो कौन जिम्मेदार होगा। वो बूढ़ा कहाँ गया?'

गिरधारी ने चुप रहकर धीरे से कहा, 'अन्दर।' उसकी नजरें जमीन में गड़ी हुई थीं। उस महिला को गुस्सा आ गया, 'तू पागल है क्या रे, दरवाजा क्यों नहीं खुलवाता? या अपने घर जा...चोरों की तरह यहाँ क्यों बैठा है?'

उसी घर से एक आदमी और निकल आया, उसने वहीं से उस महिला को पुकारा, 'चलो जी!' वह महिला उस आदमी के साथ चली गई। महिला के चले जाने के कुछ देर बाद तक वह उसी तरह भयभीत इधर-उधर देखता रहा। उस दरार पर फिर आँख लगाकर झाँका। बूढ़ा उन दोनों के ऊपर झुका हुआ था, अपने शरीर को झटका दे-देकर हुमक रहा था।

एकाएक बूढ़ा चिल्लाया, 'निकलो यहाँ से, बदमाशी फैला रखी है। बेशरम कहीं कि!' रामतीरथ और मनकी ने जवाब नहीं दिया। अपने काम में लगे रहे। बुड्ढे ने झुककर और गौर से देखा। जोर से चिल्लाया, 'मैं दरवाजा खोलता हूँ, छोड़ो, छोड़ो...हटो जल्दी!' वह मुँह से कह रहा था, आँखें वहीं टिकी थीं।

गिरधारी दरवाजे से हटकर दूसरी ओर खड़ा हो गया। उसका चेहरा बहुत अधिक धूप में रहने के बाद, थका-थका-सा हो गया था। उसके वहाँ से हटने के दो मिनट बाद ही दरवाजा खुल गया। मनकी धोती ठीक कर रही थी। रामतीरथ पाजामा चढ़ा चुका था।

गिरधारी को दरवाजे के सामने खड़े देखकर बाबू ने कहा, 'देखो, अपनी माँ की करतूत!'.

मनकी नाराज हो गई, 'शरम नहीं आती बुड्ढे ऽऽ, क्या करतूत दिखाता है माँ की...हरामजादा!' गिरधारी की तरफ देखकर पूछा, 'कब आया रे...तू?'

'अभी,' गिरधारी के चेहरे पर टूटेपन का भाव था।

'उस चुड़ैल से जबान क्यों लड़ा रहा था, साली पागल है।' रामतीरथ बाहर निकल आया, गिरधारी को गौर से देखने लगा। गिरधारी ने उन तीनों में से किसी की ओर नहीं देखा।

मनकी ने झिड़कते हुए कहा, 'चल, छोटी मां ! फिर बरतनों पर हाथ फेर
सुबह से थक गई हूं ।'
बारू तुरन्त बोला, 'यहाँ नहीं है छोटी-मोटी नखरामों के वास्ते, कसर
लिहाज ।'
रामतीरथ बीच में बोला, 'काहे ढोंग-ढोंग लगाई है, इसमें किसी का क्या दोष
तुझे मना तो नहीं किया...'
इस बार गिरधारी ने बारी-बारी से तीनों की तरफ देखा । माँ का चेहरा खि
हो गया था । बारू की तरफ वह उसी तरह देख रही थी, अभी कुछ देर प
जैसे गिरधारी की तरफ देखा था । मनकी ने गिरधारी से कहा, 'चल अन्दर, ख
क्या मुँह देख रहा है !'
गिरधारी अन्दर गया तो रामतीरथ ने कहा, 'आज तूने छोड़ मार डाला, सब च
चस कर रहा है ।'
मनकी के चेहरे पर हल्की-सी मुस्कुराहट आ गई, 'मैं नहीं मरी...।'
बारू सनसना उठा, 'मेरी तरफ से चाहे जो मरे...मेरे चालीस रुपये रख दो
रुपये चट करते वखत नहीं देखा था, मैं बुड्ढा हूँ...?' बारू कमर सीधी क
मनकी की तरफ लपका । मनकी जिन्दा से हँस दी । वह और नाराज हो गया
बुलन्द आवाज में बोला, 'हँसती क्या है, तेरा सौदा चाहे जैसा तय हो गया
बिना चालीस धरवाये जाने नहीं दूँगा...अपने इस धगड़ से कह, तुझे तीन प
की तगड़ी देगा, मेरे चालीस नहीं दे सकता ?'...बारू बार-बार नीचे के लट
होंठ को ऊपरवाले होंठ से सँभालता जा रहा था ।
मनकी हँसकर बोली, 'अकल के दुसमन, शोर क्यों मचाता है ! तेरी ही नौ
जायेगी, वो तो बेचारी डाक्टराइन रखे हुए है...औरों के लिए तो तू कौड़ी
भी भारी ।'
गिरधारी अन्दर के आँगन में चुपचाप खड़ा इन्हीं लोगों की ओर देख रहा
बारू की साँस फिर उखड़ने लगी । वह अन्दर चला गया । चुपचाप एक
में बैठकर साँस जमाने का प्रयत्न करने लगा । मनकी रसोई से थाली लगा ल
गिरधारी के सामने थाली में खाना आता देखकर, बारू ने चिल्लाकर कहा,
साले पगलैट को थाली में खाना देगी...हाथ पर दे, हाथ पर !'
मनकी ने उसकी बात की ओर ध्यान नहीं दिया । अन्दर चली गई । गिर
ने बूढ़े पर एक नजर अवश्य डाली, और खाना शुरू कर दिया । मनकी ने
कटोरी में बची-खुची खीर लाकर बूढ़े के हाथ पर रख दी । खीर लेते हुए बू
मुस्कराकर रामतीरथ की ओर देखा । अपने वास्ते वह चावलों का भिगोन

थाई। उसमें कुछ चावल बच गये थे। बची-खुची दाल, सब्जी···सब एक-साथ भिगोने में उलट ली और खाने लगी। रामतीरथ ने हँसते हुए कहा, 'सबको खा जाओगी, मैं ही रह जाऊँगा तेरे राज में!'

मनकी हँस दी, 'तुम क्यों रह जाओगे!' फैली हुई टाँगों के बीच रखे भिगोने की तरफ इशारा करके कहा, 'तुम इसमें आ जाओ!' बूढ़ा खीर खा चुका था। हँसकर बोला, 'जा, तू उसी में जा···तेरी जगह वही है, रामतीरथ!'

रामतीरथ हँसता रहा, जवाब नहीं दिया। उसी भिगोने में वह भी खाने लगा। गिरधारी खा चुका था और अब उन तीनों की ओर देख रहा था।

मनकी ने उसे खाली बैठे देख तुरन्त कहा, 'अरे बैठा क्या है, बरतनों पर हाथ फेर दे!'

वह बरतन इकट्ठे करने लगा।

मनकी हँसकर बोली, 'देखा मेरा बेटा, कैसा राजाराम-सा है! कान हिलाना नहीं जानता!' रामतीरथ ने गिरधारी की तरफ देखा। गिरधारी गरदन नीची किये बरतन मल रहा था।

बारू उन दोनों के पास आकर बैठ गया। समझाते हुए कहा, 'देखो, अब तुम दोनों का मामला तय हो गया···मेरे चालीस रुपये दे दो।'

रामतीरथ ने मनकी से कहा, 'बता तुझे तगड़ी दूँ, तेरा बेटा रखूँ, या कर्जा चुकाऊँ?'

मनकी हँस दी, 'तुम किसकी बातों में आते हो···मेरा क्या कसूर, इन पर कुछ हुआ ही नहीं···।'

बारू बिगड़ गया, 'पैसा मैं दूँ, मजा और लें!'

मनकी ने बारू को झिड़क दिया, 'चल हरामी, पास में कुछ है भी···!'

'निकल यहाँ से नीच जात!' बारू मनकी का हाथ पकड़कर धक्का देने के लिए लपका। रामतीरथ ने भी बारू की ओर हाथ बढ़ाया। मनकी ने पहले ही उसे धकेल दिया, 'हट परे, कब्र में पैर लटका रखे हैं, औरतबाजी के चक्कर में घूमता है। मुँह से झाग निकलने लगते हैं···।'

गिरधारी बरतन धो रहा था। रुककर उन लोगों की ओर देखने लगा। मनकी ने गिरधारी को डाँटते हुए कहा, 'चल उठ यहाँ से, इस साले के साथ भलाई करो, बुराई गले पड़ती है!'

'आने दे मेमसाहब को, साली जब बिमार पड़ी थी···कीड़े पड़ गये थे···मेमसाहब से बहार इलाज कराया था। अब हम बुराई करते हैं···आने दे, न झोंटा पकड़कर निकलवाया···।'

'फर किया जो होऽ··· मैं कहाँ कहूँगी, चालीस रुपये देकर आती हूँ ···
साल···होऽऽ !'

मनकी रामलाल का हाथ पकड़कर बाहर निकल गई। मनकी के हाथ प
लेने से रामलाल के चेहरे पर अनुगामभाव होने का भाव उभर आया।
उसके पीछे-पीछे चला गया। रामलाल को बाहर छोड़कर मनकी दुकान
गिरधारी से बोली, 'चल रे, उठ जल्दी से !' कहती हुई फिर बाहर निकल
गिरधारी बर्तन धोना-पोंछना रहा। बर्तनों को पूरी तरह से निपटाकर,
बाप को 'बापू, राम-राम' कहकर बाहर निकला। मनकी और रामलाल
गये थे।

गिरधारी के चले जाने पर बूढ़े ने दरवाजा बन्द कर लिया। दीवार से पी
टिकाकर चुपचाप बैठ गया।

*

मनकी लौटी, तो गिरधारी चूल्हे के सामने पलोथी लगाये बैठा था। वह प्यार
उसके बराबर में बैठ गई।

उसकी ओर बिना देखे गिरधारी ने पूछा, 'रोटी ?'

'नाऽऽ हीं, भूख नहीं···'कहकर मनकी हँस दी। गिरधारी चुपचाप बैठा र
थोड़ी देर बाद वहाँ से उठकर दीये के पास जा बैठा।

मनकी हँसकर बोली, 'अरे गिरधारी, अच्छा हुआ, आज डाक्टरसाहन हमारे
के बाद आई, नहीं तो कचा खा जाती। वो बुड्ढा तो गया था काम से।'

गिरधारी ने धीरे से 'हूँऽऽ' किया। मनकी ने उसकी ओर देखा, बोली, 'बुड्
उनसे मेरी शिकायत कर दी, चालीस रुपये नहीं देती···मैंने साफ-साफ कह दि
कैसे रुपये···?'

'माँ, तू दुपहर कहाँ चली गई थी ?'

मनकी क्षण भर के लिए गंभीर हुई, फिर हँसकर बोली, 'वे बाजार ले गये थे''
कहकर उसने पुनः पहलेवाली बात शुरू कर दी, 'वो बात तो बीच ही में रह ग
मैंने उल्टे बुड्ढे की ऐसी-की-तैसी कर दी, 'सब्ब साफ-साफ कह दिया···!'

'माँ, इस गठरी में क्या है ?'

'अरे, मैं तो भूल ही गई, तेरे बाप ने कपड़े खरीदवा कर दिये हैं। मुझ पर
नाराज थे, ऐसे सीधे लड़के को तूने ही बावला बना रखा है, फटे हुए कपड़े प
घूमता है···' मनकी ने गिरधारी की तरफ देखा। गिरधारी अपना फटा हु
जाँघिया ठीक करने में लगा था। मनकी गठरी खोलने लगी। उसमें जाँघि
बनियान और कमीज थे।

में कपड़े उठाकर मनकी ने कहा 'देख, तेरे बाप ने कितने अच्छे कपड़े खरीद
दिये हैं !'
ारी ने कपड़ो को एक नजर देखा, चुपचाप बैठा रहा।
पसंद नही आये ?' मनकी की आवाज तेज हो गई थी।
ारी ने उतनी ही धीमी आवाज में कहा, 'ठीक तो है।'
, पहनकर दिखा।'
ारी पहले अपनी माँ की तरफ देखता रहा, धीरे से बोला, 'टाँग दे।'
ी ने कुछ बोलना चाहा, पर बोली नही। चुपचाप उठकर चली गई। चूल्हे
यले निकालकर बुझाने लगी। कोयले बुझाकर बर्तन माँजने बैठ गई।
ारी ने कहा, 'सुबह माँज दूँगा।'
, मैं ही हाथ फेरे देती हूँ...' रुककर बोली 'सुबह वे ताँगा लेकर आयेंगे,
नही रहेगा।'
ाऽऽ।' कहकर गिरधारी उठा नहीं। कुछ देर बाद पूछा, 'दे दी तगड़ो ?'
दे दी।'
ी फिर हँसने लगी, 'आज उस लड़की को खूब पिटवाया, देख रही थी, मेरी
मानते हैं या नहीं ? जरा-सी, पोनड़े सूखे नही, आँख दिखाती है...। मैंने
कह दिया, मेरे सामने आँख-नाक लड़ाई तो बोटी-बोटी काट दूँगी, कभी
, सौतेली माँ है ! साली मुझसे पूछती थी, हमारे घर क्यों आई...लौंडा तो
सा बना बैठा रहा।'
ारी लेट गया। बरतन मलने की आवाज आती रही। थोड़ी देर बाद उठ-
गाँभिया सँभालता बाहर चल दिया। मनकी ने देखा, कुछ बोली नही।
ा पर जाकर बैठ जाने पर, उसने उचककर देखा। एकदम सीधा बैठा था,
की रोशनी उसके बदन पर पड़ रही थी।
ी कुछ देर तक खड़ी देखती रही, फिर जोर से पुकारा, 'अरे गिरधारी,
क्यो बैठा है, चल घर में आ...' बड़बड़ाने लगी, 'नंग-धड़ंग बैठा है गुअर...
का-बैल हो गया...'
ारी चुपचाप बैठा रहा। उसने दुबारा पुकारा। इस बार वह बिना
-उधर देखे उठा, सीधा घर की तरफ चल दिया। आकर दरवाजे पर खड़ा
गया। मनकी ने पूछा, 'क्या हुआ, उठकर क्यों चला गया था ?'
ही।'
ी बड़बड़ाई, 'अभी कौन यहाँ गर्मी हो रही है...इतना बड़ा हो गया,
अपना भी खयाल नही रख सकता !'

गिरधारी अन्दर आकर लेट गया। मनकी ने पुनः कहा, 'सो जा गिरधारी,

सामान बाँधकर चलना है। यहाँ ज्यादा मकान-मालिक की बेगारी

पड़ती है···किराया नहीं लेता तो क्या, अपना नौकर ही समझ लिया।

घर में आराम से रहेंगे। मैंने डाक्टराइन को भी जवाब दे दिया, मदद

चूका, ओढ़ने लगी। जैसे मैं उनकी नौकर हूँ!'

गिरधारी की ओर से किसी प्रकार का उत्तर न सुनकर पूछा, 'सो गया?'

'नहीं तो।'

'हाँ ला हूँ, सर्दी-सा पता है। अपने बाप के साथ ऐसा करेगा···' बात क

कर बोली, 'उनके साथ ऐसा मत करना, मेरा तो कुछ नहीं।'

गिरधारी ने बिल्कुल स्थिर भाव से पहली बात का जवाब दिया, 'अच्छ

है···।' दूसरी तरफ करवट बदल ली।

काम-धाम निबटाकर मनकी भी लेट गई। काफी देर तक दोनों के बीच एक

रही। मनकी ने समझा, गिरधारी को नींद आ गई। उसने भी करवट

ली। गिरधारी ने आँखें खोलकर माँ की तरफ देखा। उसकी पीठ पूरी

नंगी थी। उसने हाथ बढ़ाया, फिर पीछे हटा लिया।

'माँ···' गिरधारी के मुँह से एकाएक निकला। मनकी चौंक-सी गई।

बदलकर पूछा, 'तू जगा है रे! मैं तो समझी, सो गया।'

गिरधारी चुप रहा।

'क्या बात थी, बोलता क्यों नहीं?'

वह चुप रहा।

मनकी ने दुबारा पूछा, 'अरे बोल, क्या बात थी?'

'डाक्टराइन ने तो ब्याह नहीं किया?' गिरधारी के पूछने पर मनकी क्ष

चुप रही। वह भी अपनी माँ के जवाब का इन्तजार करता रहा।

'इन लोगों का क्या ब्याह···' कहकर मनकी भद्दी तरह हँस दी। मन

हठात् हँस देने पर गिरधारी ने झुककर माँ को देखना चाहा। वह ज

से हँसली की आवाज पैदा कर रही थी। वह पुनः लेट गया।

'क्यों पूछ रहा है रे, तू करेगा उससे ब्याह?' मनकी का हँसना फि

हो गया।

'···मोटर कार में घुमाया करेगी···अब अकड़ती है···हमें भी सुख हो

सासजी-सासजी करती घूमा करेगी···।' सब-कुछ हँस-हँसकर कहे जा र

कुछ रुककर समझाने के अन्दाज में गिरधारी से फिर कहा, 'ये लोग ब्याह

विश्वास नहीं करतीं, एक से कौन बँधे···!'

गिरधारी ने धीरे से पूछा, 'माँ, दरवाजा बन्द कर दूँ ?'
मनकी हँसती-हँसती रुक गई, 'मैं किये देती हूँ।'
गिरधारी अपना जाँघिया सँभालता हुआ उठा, दरवाजा बन्द कर आया। मनकी ने कहा, 'अब सो जा, सुबह जल्दी उठना है।' गिरधारी चुपचाप लेटा रहा। थोड़ी देर बाद उसे लगा, मनकी जाग रही है। उसने धीमी आवाज में पूछा, 'सो गई, माँ ?'
'नहीं, जाग रही हूँ।'
'माँ, वे किस वखत आयेंगे ?'
'कौन ?'
'वे ऽऽ...' थोड़ा रुककर कहा, 'रामतीरथ।'
'अब तू उन्हें बाबू कहा करना, समझा !'
गिरधारी ने जवाब नहीं दिया। थोड़ी देर बाद मनकी स्वयं ही बोली, 'सुबह सात-आठ बजे तक आ जायेंगे।' गिरधारी ने 'हूँ' कर दिया। उसके हुँकारा भर देने पर मनकी निश्चिन्त-सी हो गई। थोड़ी देर बाद खर्राटे भरने लगी।
गिरधारी धीरे से उठा, दरवाजे तक गया। चुपचाप खड़ा रहकर लौट आया। सीधा अपनी जगह पर न जाकर, माँ के ऊपर झुक गया। मनकी की छाती से कपड़ा सरक गया था। वह उसे देखता रहा, फिर अपनी जगह आकर लेट गया। मनकी के खर्राटे बढ़ते जा रहे थे।

और दिनों की बनिस्बत मनकी जरा जल्दी उठी। गिरधारी पहले ही उठ गया था। माँ का सब सामान एक जगह इकट्ठा कर दिया था। निश्चिन्तता के साथ बैठा मनकी के उठने की प्रतीक्षा कर रहा था। अभी तक उसने नये कपड़े नहीं बदले थे। पुराना ही जाँघिया पहने था। लम्बा बनियान पहने हुए होने से नंगापन कुछ ढका हुआ था।
मनकी उठकर मिनटों में नहा-धो आई। गिरधारी उसी तरह बुत बना बैठा रहा। मनकी को कहना पड़ा, 'अरे बेटा, बिना कहे क्या कोई काम ही नहीं होगा, जा, नहा-धो ले ! तेरे बाबू आते होंगे।'
गिरधारी ने मनकी की तरफ देखा। वह बाल बाह रही थी। अभी तक रातवाला ही पेटीकोट पहने थी। झीना। टाँगों से लेकर...सब कुछ झाँक रहा था। गिरधारी ने वहाँ से नजर हटा ली, ब्लाउज देखने लगा। ब्लाउज हमेशा की तरह ढीला नहीं था। आस्तीनों से निकली बाँहें उसे अच्छी लग रही थीं। बाल-बाल बना लेने के बाद मनकी ने गिरधारी से कहा, 'जा, तू बाहर चला जा, कपड़े

बदल लूँ।'

गिरधारी बाहर चला गया। मनकी ने अपनी पोटली में साड़ी, ...
निकालकर पहनी। बिन्दी लगाकर, माँग भरी, ... में निकालकर ...
चेहरे पर लगाया। नई लगने लगी। ... शीशा देख,
हल्का-सा मुस्करा दी।

गिरधारी आया, मन भी वह मुस्करा रही थी। गिरधारी ने ...
ओर देखा। मुस्करा बोली, 'ओ, गिरधारी...मैं तो कैसी लग रही हूँ?'
गिरधारी ने भरपूर नजर डाली, धीरे से कहा, 'अच्छी...' मनकी हँ...
गिरधारी साफा उठाकर नहाने जाने लगा। मनकी ने तुरन्त टोका, 'अरे'
तो लेता जा, इन फटे-टूटे कपड़ों को ही पहनेगा...'

गिरधारी ने एक बार टँगे हुए कपड़ों को देखा। फिर खूँटी से उतार
लेता गया।

गिरधारी नहा-धोकर, नये कपड़े पहने लौटा। रामतीरथ ताँगा लेकर आ गया
लगभग सब सामान रामतीरथ और ताँगेवाले ने मिलकर लदा लिया था।
बहू की तरह धीमे-धीमे बोलकर सामान बताती जा रही थी।

गिरधारी को देखते ही रामतीरथ ने कहा, 'अभी तक तैयार ही
हुआ, वे !'

गिरधारी चुपचाप खड़ा रहा। कुछ सामान अभी भी नीचे रह गय
मनकी ने रामतीरथ को पास बुलाकर कहा, 'तुम गिरधारी को बिठा ले
दो, बाकी सामान वह लेता आयेगा।'

रामतीरथ को बात अधिक पसन्द नहीं आई। समझाते हुए कहा, 'अरे,
ही आ जाये तो गनीमत है, सामान तो सब ताँगे पर ही लद जायेगा...
इसने देखा ही है, पैदल चला आयेगा।'

मनकी ने गिरधारी की ओर देखा, वह गर्दन झुकाये चुपचाप खड़ा था।
रामतीरथ ने ताँगेवाले से कहा, 'चलो जी...' ताँगा चल दिया। मनकी
गिरधारी की तरफ देखा। उसकी नजर ताँगे के पहियों पर थी।
ताँगा चले जाने के बाद, गिरधारी ने एक चक्कर गैरिज का लगाया। न
उतारे, और पुराना जाँघिया पहनकर जमीन पर ही लेट गया।

तक कहाँ थे ?'
एक थके हुए आदमी की तरह उन्होंने कहा, 'महीने में कुछ काम कर ... थक गया हूँ ।'
'और बच्चे...' वह आत्म-प्रकाश पूछ रही । उसने देखा, उनके चेहरे पर एक क्षण के लिए गंभीर जैसा आश्चर्य कौंध गया था ।
'क्यों...क्या हुआ बच्चों को ?' उन्होंने उसी आश्चर्य में पूछा ।
'वह तो बाग में नहीं थी ?'
'नहीं, वह मजे में खाना खा रही है ।' उत्तर देते हुए पति काफी सुस्ती म... होने लगे थे ।
छुट्टी का दिन था और वह जानती थी कि थोड़ा कुछ खा लेने के बाद पति ... तक सोते रहेंगे । यह देर तक सोने का रहस्य तो आज उसकी समझ में ... था । अगर कुछ और किस्म से होता तो वह कभी भी उनसे प्रताड़ित नहीं हो... उसके लिए बड़ी बात यही थी कि वह एक अजीब हरकत थी जिसे ऐसा कोई शायद बर्दाश्त नहीं कर सकता है जो यह उन तमाम विचित्र प्रसंगों का ... माध्यम रहा हो ।
बाद में उसने हिसाब लगाया कि दरवाजे के कोने की बजाय वह किनारेवा... खिड़की से भी यह दृश्य देख सकती थी । उसने अपने पहले दिनों का हिसाब लगा... तो वह अपने अतीत से एकदम डर-सी गई । शादी के पहले दिनों की बेहोशी कुछ ही दिनों में टूट गई थी और उसे अपने पति के एक विचित्र रहस्य का प... लगा था । लेकिन यह इतना विद्रूप नहीं था । यह उस दृश्य को भूल नहीं सकती... उस रात उसके पति एक लड़के के साथ आये थे । एक बिल्कुल दूध-धोया लड़का... उसे पता नहीं था कि उन्होंने शराब पी हुई थी । यह तो उसे तब पता चला... जब वे उस कमरे में आये थे, जहाँ वह उनकी प्रतीक्षा कर रही थी ।
'मैं उस कमरे में सोऊँगा, क्योंकि वह मेहमान भी आया हुआ है !'
बजाय यह पूछने के कि वहाँ सोने की क्या जरूरत है उसने पूछा, 'वह कौन है !'
जब वे बिल्कुल पास आये थे तब उनके मुँह से बू आ रही थी ।
'आपने शराब पी है ?' वह डर गई थी ।
'हाँ, मेरे पेट में कुछ गड़बड़ थी । डॉक्टर ने सलाह दी थी कि मुझे एकाध पे... ले लेना चाहिए ।'
उसके पति अस्पताल में काम करते थे, इसलिए उसे विश्वास करना पड़ा था ।
'वह हमारे रिश्तेदार का लड़का है । कल वापिस चला जायेगा । क्या हम लो... यहीं सो जायँ ?' यह कहते हुए वे हँस पड़े थे । उसने उसका कुछ और ही मतल...

लग गये थे ।
उसने जान-बूझकर दरवाजा जल्दी से बन्द किया था । [illegible]
कि उसका पति और वह लड़का दोनों उसी तरह हट गये होंगे, लेकिन थोड़ी
देर बाद उसके पति आये थे…
'मैं नहीं जानता मुझे क्या हो गया,' उन्होंने कहा, और वे उसके सिरहाने [illegible]
'छोड़ो भी । यह क्या-क्या बकना है यहाँ ! अभी तो नये दिनों का [illegible]
[illegible] नहीं हुआ ।' वह और कुछ कहना चाहती थी, पर चुप रही ।
'नहीं, नहीं, जानती हो, मैं शाम से शराब के नशे में था और मुझे यह पता ही
नहीं था कि तुम मेरे साथ सोयी हुई हो ।'
सचमुच उसके नये दिनों का शौक था, वह पति से लिपट गई थी। शरीर की थोड़ी
थोड़ी गर्मी ने उसे पति से लिपटने के लिए विवश भी कर दिया था । वह कितने
पहाड़ों के आवेश के अनुभवों के लिए तैयार हो गई थी । परन्तु उसने 'उस' पति
को, अपने पति को उसने सोया हुआ महसूस किया था । यह तो बहुत देर बाद
उसके अनेक करवट लेने के बाद, पति ने उसे उसी अनुभव के लिए तैयार कर
आरम्भ किया था । उस रात का वह सारा अनुभव, शिथिल अँगुलियों के
कसाव और एक ढीले उतार का अनुभव था । उसे लगातार लग रहा था जैसे
वह एक हरी घासीली ढाल पर लुढ़कती जा रही हो, लेकिन बीच में वह कहीं
कहीं भी नहीं थी जिसके बाद ढाल और घास कुछ भी नहीं रह जाती ।
यह तो वर्षों पुराना अनुभव है जिसे वह कभी नहीं भूल सकती । धीरे-धीरे उसे
पति के नये रूप का परिचय मिलता गया । उसकी इच्छा हुई थी, वह एक
दिन अपने पति के सामने कहे कि वह अपनी रुचि के अनुसार उसका उपयोग कर
लें लेकिन यह बेहद घृणास्पद काम होता है । बेहद । इसमें आदमी की इकतरफा
इच्छा जरूर पूरी हो जाती है, लेकिन लगता है, दूसरा आदमी लकड़ी का
चौखटा है ।
बीच के वर्षों में उसके सामने यह बात फिर नहीं हुई, पर उसका शक पूरी तरह
दूर नहीं हुआ था । जब-जब उसके पति उस परिचित थकान के साथ लौटे
उसका शक और भी प्रबल हो जाता और वह सोचती, उसे अपने लिए भी कोई
रास्ता जरूर चुनना चाहिए । उसे अपनी बेवकूफी पर हँसी भी आती । जीवन के
इन वर्षों में उसने कभी अपने लिए कुछ नहीं सोचा था । शायद धीरे-धीरे
उसकी कामना मर गई थी । पर यह भी उसका भ्रम था । कामना कभी
मरती नहीं है । वह पत्तों के बीच छिपी रहती है । जब वक्त आता है तब वह
उन किनारों पर टकराती है जो बेहद कमजोर होते हैं और धारा अपनी सीमा से

तक चली आती है। उसने कभी इस उफान को बाहर तक आने की
नि नहीं दी थी। उसके लिए यह कठिन था। यह इसलिए कठिन था
के उसका अपना दायरा इस तरह का था जहाँ छोटी-सी बात भी सन्तोष दे
है।

में उसके पति के शौक बदल गये थे। थके हुए क्षणों में वह उसे बहुत प्यार
थे। ऐसे अवसरों पर उसे अपना गुस्सा गलत लगता और वह इस बात को
मान लेती कि उस पहली दफा सचमुच उसके पति नशे में होंगे। तभी तो
में उन्होंने माफी माँगी थी और यह कहा था कि उन्हें तो यही भ्रम था कि
सी के साथ सोये हुए हैं। इस थकान से मुक्ति पाने के लिए उसके पति ने
ने शराब पीने की अनुमति माँगी थी। और उसे याद है, शराब पिये हुए
क्षणों पर अक्सर उसके पति के दबाव से उसकी आँखें बन्द हो जाती थीं।
के पति के बदले हुए शौकों में निचले पहाड़ों के बीच की उभरी हुई घाटी से
लियों को दौड़ाने का शौक भी था। तब वह मर-मर-सी जाती थी और उस
बन्द आँखों के बीच का एक जानवर हावी हो जाता था। उस अनुभव को
गीला, पानीदार अनुभव कहती थी। जब उसने पहली बार अपने पति से
तीव्र सुख की चर्चा की थी तब वह खामोश हो गया था।

'तुम्हें सन्तोष नहीं होता?' उसने अपने पति से उस खामोशी के दौरान
था।

'नहीं, बिल्कुल नहीं। बल्कि मुझे ऐसा लगता है जैसे मैं किसी लिजलिजे कीड़े
हाथ लगा रहा होऊँ।'

'तुम्हारी पसन्द कैसी है?'

'मेरी पसन्द,' उसका पति हँस पड़ा था। 'मेरी पसन्द सिर्फ उस गर्मी में बैठा
रहना है। मैं कभी नहीं चाहता कि उससे छुट्टी मिले।'

वह नाराज हो सकती थी लेकिन उससे पहले उसका पति उसका मुँह बन्द कर
देता था, और वह फिर उसी चरम पर पहुँच जाती, जहाँ से आँखों के भीतर
कुछ दिखाई देने की कोई कामना नहीं रहती।

उनका कोई बच्चा नहीं था। उसे बच्चे की जरूरत थी। उसका पति इस
बात को मुसीबत समझता था और उसे समझाता था कि बच्चा हो जाने के बाद
वे दोनों बिल्कुल कट जायेंगे और एक-दूसरे के साथ उन्हें भाई-बहिन की तरह
रहना पड़ेगा। उसका पति पहले दिनों में पाँच दिन की छुट्टियाँ भी बर्दाश्त
नहीं कर सकता था और कहता था, साल में दो महीने संसार के हर पति-पत्नी
को भाई-बहिन बनने पर विवश होना पड़ता है। अब ये बातें न थीं। उसका

पति ऐसी बातें करता अक्सर था, पर [illegible] वह जो बातें समझ में नहीं आ
था वह उन पर [illegible] नहीं [illegible] थी ।
बच्चों को लेकर और पति की [illegible] को लेकर उन दोनों में बहुत [illegible]
हुआ था । वह अपने पति के साथ [illegible] के किसी भी आदमी को [illegible]
कर सकती थी । इस [illegible] से उसके पति के [illegible] की संख्या बढ़
गई थी । इसे वह पसन्द भी करती थी ।
पड़ोस की [illegible] औरतें उसके पति को देखतीं और उनके जीवन को
आदर्श जीवन कहतीं तो [illegible] उसे लगता था जैसे उसके साथ सब दि
चल रहा हो । बच्चों के प्रति उसका इस तरह का कोई लगाव नहीं था
अनजाने उसके मन में यह बात जम गई थी कि उसे उनका भी अभाव है
इस अभाव को दूर करने में उसके पति ने उसकी कितनी सहायता की
इससे अलग नहीं रह पाती । वह तरह-तरह से उसके मनोरंजन की
करता और यह सब उसे प्यारा लगता था ।
'तुम डाक्टर के पास क्यों नहीं चलते ?' वह अपने पति से कहती ।
'तुम्हारा मोसमी क्रम ठीक है और मेरा नार्मल है, यह तुम्हारे स्वास्थ्य
बड़ा प्रमाण है ।'
वह इसलिए चुप नहीं रहती कि उसके पति का तर्क ठीक है बल्कि वह
चुप रह जाती क्योंकि उसे लगता कि बच्चा हो जाने के बाद पति के लि
उपयोगिता क्या रह जायेगी । यह मामूली बात भी हो सकती थी प
गहरे में, उसके अपने आप में, यह डर समा गया था कि थोड़ी-सी भूल
बाद उसका पति उसके लिए बहुत दूर हो जायेगा ।
'क्या हम कोई बच्चा गोद नहीं ले सकते ?' उसका पति उससे पूछता ।
'तो क्या हम बच्चे पैदा करने के काबिल नहीं हैं ?'
'मैं तो उलझनों से बचना चाहता हूँ,' वह कहता और हँस पड़ता ।
कई दिनों तक उसे यह समझ में भी नहीं आया कि उसका पति चाहत
कहीं ऐसा तो नहीं कि उसकी सभी बातों का विरोध करना उसका स
गया हो । यह बात नहीं थी, अन्यथा उन क्षणों में भी उसका विरोध
आना चाहिए था, जिन क्षणों में वह सिर्फ उसका होता था । कभी-
बातों को सोचते हुए वह उन दिनों की याद करने लगती, जब वह अप
परितृप्त महसूस करती थी और उसे लगता था सारा सुख उसी के पास
ऐसे अवसर या क्षण दिमाग में इतने कम रह गये थे कि वे केव
गये थे ।

क बातों को लेकर उनमें जो कलह चलता था उससे कभी उस तरह की शान्ति मिल सकती थी जिसकी वह हमेशा अपेक्षा रखती थी। अक्सर केवल इसी बात को लेकर, कि ये एक-दूसरे के अनुकूल नहीं रहते, उनमें झगड़ा हो जाता। ये झगड़े न स्थायी थे और न अस्थायी, क्योंकि इनका सम्बन्ध और बातों से जुड़ जाता था। वह कहता, 'अगर तुम चाहो तो हम लोग बिल्कुल नये तरीके से जीवन बिताएँ ?'

अपने पति की यह बात सुनकर वह डर जाती। नया तरीका क्या हो सकता है—क्या वह सम्बन्धों का अन्त है ? इस चर्चा की कल्पना भी उसके लिए सहनीय नहीं थी। यह भी हो सकता है कि उसका पति ये बातें बिना किसी प्रयोजन के कहता हो किन्तु चाहे आनन्द की स्मृति के जितने भी धुँधले पृष्ठ हों और वह कहीं-कहीं आशावादी भी हो, कुल मिलाकर वह अपने इस सीमित परिवार में पति के आतंक में रहती है। वह जानती है, सिवाय इस स्वीकार के उसके पास और कोई चारा नहीं है। बहुत उखड़े हुए तरीके से जब आदमी जीता रहता है तब उसके पास अनुकूलता या सुख की वह कामना भी नहीं रहती जो शेष लोगों के लिए किसी अर्थ की होती है परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उसके सुख की कामना खत्म हो गई हो।

कुछ दिनों उसने कोशिश कर अपने पति के अनुकूल बनने की चेष्टा की और उसने पाया कि उससे पति के व्यवहार में कोई ज्यादा अन्तर नहीं आया। बल्कि उस शौक के रूप में पति एक बकरी ले आये और बगीचे में ज्यादा व्यस्त रहने लग गये। यह खोज तो उसने हाल ही में की कि बकरी और पतिदेव का वक्त आपस में ज्यादा बीतने लग गया था। वह पति के इस शौक को इसलिए स्वीकार करने लग गई थी क्योंकि उससे उसे फिर उस भयानक अनुभव का सामना नहीं करना पड़ेगा जिससे वह बुरी तरह प्रताड़ित थी। वह जानती थी उसके अन्दर-ही-अन्दर एक भयावह अपमान की मरोड़ पल रही है। वह जानती है, उस पीड़ा से छुटकारा पाना कितना कठिन है। वह चाहे और किसी भी दुःख से छुटकारा पा सकती है लेकिन अचानक मन में पले इस अज्ञात जानवर को अपने से कभी भी अलग नहीं कर सकती। उसे पड़ोस की महिलाओं की अनेक बातें कभी भी अनुकूल नहीं लगतीं, बल्कि उसे लगता है कि इस सारी व्यवस्था से परे कोई अज्ञात उसके साथ न केवल मजाक कर रहा है बल्कि उसके अन्दर के भयानक जानवर को पुष्ट कर रहा है। यह कितना विचित्र था—वह कभी नहीं जानती थी उसके साथ यह क्यों होता है। उसके पति की सभी विचित्र रुचियों के प्रति उसे कभी लगाव नहीं रहा। राजनीति हो या देश की गिरती हुई दशा,

उसे कभी नहीं लगता था कि इन बातों पर आदमी से कोई मतलब भी [illegible] से कोई परिवर्तन हो जाता [illegible] है,
उन बातों से क्यों डरना चाहते हैं, क्या ऐसा हो सकता कि अचानक [illegible]
कहीं कुंठित होकर उसके पति ने [illegible] कर लिया हो।
जगह से असन्तुष्ट होने के बाद या किन्हीं भी कारणों से उसके पति ने जो
सुना था केवल उसी से वह जुड़ी हुई है। और जब वह [illegible]
यह रहती कि हमें इन बातों से क्या लेना है, [illegible] अकेले
[illegible] है, तब उसका पति नाराज हो जाता, और कहता, 'तुम दुनिया
वालों लोगों की तरह मूर्ख हो। तुम उन लोगों में से हो जो अपने सुख,
जीवन, अकेलेपन के कुएँ में ही झाँक सकते हो।' उसके लिए पति की ये बातें
मामूली थी। और बहुत पहले दिनों से उसने यह मान लिया कि सिर्फ हाँ, हाँ
के अतिरिक्त उसे अपना मत नहीं देना चाहिए। यह सब उसके लिए [illegible]
था और वह नितान्त साधारण होने की कल्पना करती थी। एक अर्से तक
सोचती रही कि अनेक अभावों को भरने का एकमात्र तरीका यही है कि
उन्हें जैसा-का-तैसा स्वीकार कर ले। पर क्या सचमुच वह मूर्ख है, उसे
कभी यह बात झूठ लगती—लेकिन अपने मूर्ख हो जाने का डर उसे इतना
कि वह यह भूल जाती कि कितने दिनों से उसने पति का सान्निध्य नहीं पाया
कितनी रातें उसने अलग और अकेले बिताई है।

परन्तु इस बार वह सचमुच डर गई थी। उसने पहली बार यह युद्ध देखा
देखने के बाद उसे लगा था जैसे वह कोई जानवर भी नहीं है, जैसे वह
बकरी भी नहीं है। वह रोने के लिए डरती है क्योंकि इससे जरूर कोई
बात आदमी के अन्दर से निकल जाती है, जिसे वह कहना ही नहीं चाहता।
इससे वह पूरी तरह जान गई है कि कई मामलों में वह कितनी विवश है।
ये बातें पूरी तरह व्यक्तिगत भी हैं तब भी, वह इसे अपनी सीमा में समझने
कतराती है।

दो या तीन दिन या इससे भी ज्यादा दिनों तक वह उस स्थिति से छुटकारा नहीं
पा सकी। वह रात या दिन में कई बार या जब भी मौका मिलता खिड़की पर
खड़ी हो जाती और मन-ही-मन वह चित्र बनाती।

'तुम खिड़की पर क्यों खड़ी रहती हो ?' उसके पति ने पूछा था, जैसे वह
गया हो।

'नहीं तो, मैं यों ही बाहर के दृश्य देखती हूँ।' उसके जी में आया वह कहे, तुम
बगीचे से आ जाने के बाद उस तरह क्यों थकते हो। वह जानती है, उसका

यही होगा कि वह अब धीरे-धीरे सालों के बड़े रास्ते पार कर रहा है।
हो जैसी स्फूर्ति की बात कैसे की जा सकती है। फिर भी उसके पति को
पड़ गई थी। वह तो अब अपने डर के अलावा वक्त काटने के लिए या
ी आत्मपीड़ा के लिए वह इसे सोचती है या उसकी प्रतीक्षा करती है।
देखा है कि बकरी इन दिनों जैसे दिन-दिखाकर घर की तरफ भी देखती है।
ह उसका भ्रम था क्योंकि वह जानवर था और वह कहीं भी देख सकता था
मह छोटा-सा डर भी उसके लिए कितना भयानक हो सकता है, वह पूरी
जानती है।

एक बार शाम को उसने फिर पति को बगीचे के पीछे बकरी के साथ देखा
हालाँकि उस वक्त स्थिति कोई विचित्र नहीं थी किन्तु उसने देख लिया था
सका पति बकरी को उसी तरह सहला रहा था जिस तरह वह उसे सहलाता
उसका सारा शरीर एकबारगी फिर काँप गया था और उसे लगा था जैसे
उसके उस अकल्पनीय अपमान की कहानी की भयानक शुरुआत हो रही हो।
तक बकरी ने खिड़की की तरफ पीछे मुड़कर देखा था। उसके साथ ही जब
पति ने पीछे मुड़कर देखा तो उसने झटके के साथ बकरी को अलग कर दिया
और वह बगीचे के दूसरे हिस्से की तरफ चला गया था। पिछले दिनों के
बने में धीरे-धीरे उसके अनुभव की तीव्रता उस बिन्दु तक पहुँच गई थी जहाँ
तो वह धीरे-धीरे मरती रहे या वह एकबारगी अपने पति को हिला दे।
मूल उसके गहरे में कहीं अपमान का जानवर दूसरे रास्ते से बाहर आने की
शा में था। वह अपने अनेक डरों के कारण उसे रोके हुए थी। वह नहीं
ती थी—क्यों?

'तुम यह बकरी बेच नहीं सकते?' उसने अपने पति से कहा था।

'क्यों?' वह भी डरा हुआ था। या दूसरी तरह वह आत्म-ग्लानि
कारण डर रहा था।

'लगता है, तुम्हें ज्यादा मेहनत पड़ जाती है।'

'कैसी मेहनत?'

बात बीच में ही खत्म हो गई थी क्योंकि उसके पति ने कहा था, 'तुम
इस तरह के भ्रमों की शिकार होती जा रही हो।'

इसके बाद की रातों में धीरे-धीरे सिमट रहे जीवन की विद्रूपता और ही तरह से
सी आने लगी थी। उसे लगता था जैसे सोते, खाते, सारे घर में, हर वक्त,
री की मिमियाहट फैल गई हो। कई बार तो उसे स्वप्न में भी लगा है जैसे
की बगल में उसका पति सोया हुआ हो और एक तरफ बकरी भी खड़ी हो।

यह सबसे भयानक बात थी जो उसे रात-दिन कचोटने लगी थी ।
'हमें यह घर और शहर छोड़ देना चाहिए ।' उसने पति से याचना की थी।
'तुम पागल हो । तुम्हें पता होना चाहिए कि हमारा यहाँ रहना कित
जरूरी है ।'
'जो भी हो,' वह ज्यादा जोर देती, 'तुम यहाँ ज्यादा थके-थके लगते हो और
शिथिल भी ।'
वह हँस पड़ता, 'ऐसी बात नहीं है ।' लेकिन शायद उसका पति खुद भी जान
है कि एक औरत के लिए यह सब कितना कठिन होता है ।
'वह बकरी मेरी तरफ क्यों देखती है, जब मैं खिड़की पर खड़ी होती हूँ ?'
'वह तुमसे दोस्ती करना चाहती है ।' उसका पति फिर हँस पड़ता ।

एक दिन दोपहर में वह बकरी के पास गई तो बकरी उसकी तरफ सींग
निशाना करती हुई दौड़ पड़ी । वह बड़ी मुश्किल से वहाँ से अपने कमरे में
आई थी ।
'यह बकरी मुझे मार देगी । तुम जानते हो, आज वह सींग बढ़ाए मेरी तरफ दौ
पड़ी थी ?'
'यह इसलिए कि तुम उसके लिए अजनबी हो ।'
'इसका फायदा क्या है, इसे हटाओ इस घर से, वरना मैं इसे मार दूँगी ।'
'तुम नहीं जानती । जब इसके बच्चे होंगे तब इसमें माँ जैसा स्वभाव आयेगा।
अभी तो बिल्कुल तुम्हारी तरह है ।'
वह बिफर पड़ी थी । 'मैं बकरी की तरह हूँ । तुम्हें शर्म नहीं आती ।···आखि
मैं तुम्हारी पत्नी हूँ ।' वह पहले दिनों की अपेक्षा ज्यादा आवेश में आ गई थी।
'मुझे यह समझ नहीं आता कि तुम बकरी के प्रति इतनी क्रूर क्यों हो गई हो ?'
'मुझे तो तुम्हारे प्रति क्रूर होना चाहिए था । तुम्हारे प्रति ।'···
फिर तो वह केवल बकरी के बारे में सोचने लग गई थी । वह कामना कर
थी कि बकरी मर जाय या उसे कोई उठा ले जाय । लेकिन वह बकरी के पा
तक नहीं जा सकती थी क्योंकि उसे पता था, वह कहीं सींग न मार दे । वह
अपने पति से बल्कि बकरी और उस विचित्र दृश्य के आतंक से बुरी तरह पीड़ि
हो गई थी । अक्सर खिड़की पर खड़े होते ही उसे लगता जैसे बकरी उसी की
तरफ देखने के लिए मुड़ गई हो । इतनी दूर से उसे बकरी की आँखें दिखाई नहीं
देती थीं लेकिन फिर भी लगता था जैसे बकरी अपनी आँखों में गहरी वितृष्णा और
प्रतिहिंसा भरकर उस ओर देखती हो ।

तों के बाद यह बात उसके साथ घट रही थी। चाहे जैसा भी वह जी रही
', चाहे जैसे उसे अपने-आपको दबाकर रखना पड़ रहा था, इन दिनों एक
जीव-से पशु जगत के बीच उसे रहना पड़ रहा था। वह डरती थी कि कहीं
निवाले कल वह अपने पति को और अपने-आपको भी जानवर न समझने लगे।

ग तुम बकरी को नहीं निकाल सकते ?' एक दिन उसने साहस करके अपने
ते से पूछ लिया था, क्योंकि उससे पहले की रातें उसने कामनाग्नि में जलते
: भयानक आतंक के बीच गुजारी थी। बल्कि अगर छोटी-छोटी बातें गिनने
ो तो वह सचमुच जानवर के रूप में ही अपने को समझने लगे। वह खिड़-
यों और दरवाजे कसकर बन्द कर लिया करती थी। उसे डर था, कहीं किसी
न बकरी कमरे में न आ जाय और कहीं किसी दिन वह केवल सोये हुए खत्म
हो जाय। चाहे उसे लगता था कि वह अपना मरना देख रही है फिर भी
ते हुए मर जाना कितना पीड़ाजनक है !
ते ने उसके आवेश को पहचान लिया था। वह पूरी तरह अपनी पत्नी को
नता था और उसे पता था उसकी पत्नी भी उसकी कुछ बातों को जानती है।
ीक है, मैं उसे बेचने की कोशिश करूँगा।' बहुत दिनों बाद यह कहकर उसने
ी को कुछ आश्वस्त किया था, और बहुत दिनों बाद ही उसने पत्नी को पुराने
रुक दर्द पर प्यार किया था।
ते के इस व्यवहार से जैसे वह बहुत-कुछ इस डर से मुक्ति पाने का आभास पाने
ी थी परन्तु मन की गहराई में फिर भी एक संशय का विषैला जानवर रेंग रहा
। जिसका विष स्वयं उसकी धमनियों में प्रवाहित होकर उसे भी मार रहा था।

। दिनों तक उसके पति ने उसका पूरा ध्यान रखा था, और जब से उसने साहस
रके अपने पति से कुछ कहा था तब से इन दो दिनों उसने पति का पूरा प्यार
ाया था। वे ही क्रूर कसाव के क्षण, वे ही बड़े उठे हुए पहाड़ और वही
रलता……परन्तु तीसरे दिन सुबह ही उसने देखा कि बकरी दरवाजे पर
ड़ी थी।
या अभी बकरी बिकी नहीं ?' उसने कहा।
ीं कोशिश कर रहा हूँ।' उसके पति ने कहा।
से कहीं दूर पेड़ के नीचे बाँध दो।'
बाँधने पर यह और भी तंग करेगी और इसकी मिमियाहट से तुम्हारी सुबह की
ींद भी खत्म हो जायेगी।'

लेकिन उसी दिन दोपहर को उसने रसोई से देखा कि बकरी कमरे के अ
उसके पति के पास खड़ी है और उसने अपना पिछला हिस्सा पति की तरफ कि
हुआ था।
'इसे बाहर करो,' उसने रसोई से चिल्लाकर कहा। 'जल्दी बाहर करो इसे।'
बकरी ने मुड़कर देखा था तो उसे लगा था जैसे वह एक झटके में आकर उसके
अन्दर सींग घुसा देगी। उसने जल्दी से रसोई का दरवाजा बन्द कर लिया था
वह हाँफ रही थी और डर रही थी। इस बीच उसे रोना आ गया था और
उसने चीखकर अपने पति को बुला लिया था।
'तुम व्यर्थ से डरती हो। ऐसी कोई बात नहीं।'
'वह तुम्हें क्यों नहीं सींग मारती?'
'इसलिए कि वह मुझे जानती है।'
'इससे हमारा कोई फायदा नहीं है।'
'अगर यह बिकी नहीं तो मैं इसे कहीं दूर छोड़ आऊँगा।'
परन्तु उसे पति की बातों पर विश्वास नहीं हुआ और उसने निश्चय किया
वह खुद इस बात पर निर्णय लेगी। एक तरह से उसने निर्णय ले भी लि
था। उसे अपनी गलती का अहसास हुआ कि क्यों नहीं पहले उसने इतनी ह
से सोचने की कोशिश की।

दोपहर को जब उसका पति सो गया तब वह उस खास दवाई को रोटी में लि
कर बगीचे में ले गई थी, और उसने निर्णय ले लिया था कि वह इस आतंक
छुटकारा पा लेगी। उसका पति सोया हुआ था, और छुट्टी के दिन की ग
नींद में सोया हुआ था। इससे बढ़िया अवसर कोई नहीं हो सकता।
जब वह बगीचे में पहुँची थी तो उसने दूर से ही देख लिया था कि बकरी
दूसरी ओर मुँह किए बैठी या आधी लेटी हुई है। पहले उसने सोचा कि दू
ही रोटी का टुकड़ा फेंकना चाहिए, लेकिन साहस करके वह पास तक आ
थी। पाँवों की आवाज सुनकर बकरी चौकन्नी हो गई थी। जब वह बिल्
पास गई तो बकरी उसी मुद्रा में उठ खड़ी हुई थी। उसे बहुत डर लगा लें
उसने देखा कि मुड़ने की बजाय बकरी पिछली टाँगों के बल पीछे आ रही है अ
एक खास मुद्रा में अपना पिछला हिस्सा ऊँचा कर रही है। वह इस मुद्रा
पहचानती थी। इससे पहले कि बकरी और पीछे आए, उसने खट से रोटी
टुकड़ा आगे फेंक दिया था। जब बकरी ने पीछे मुड़कर देखा तो वह डर गई अ
जोरों से चीखकर भाग पड़ी। जल्दी में वह एक पेड़ के पीछे खड़ी हो गई थी